परिचय

वैसे तो उर्दू के समर्थक उसका सब प्रकार से संवर्धन और प्रसार करने का प्रयत्न सदा से करते आ रहे हैं, किंतु इधर जब से देश में हिंदी को राष्ट्र की भाषा के रूप में स्वीकार किया गया और विशेषकर अहिंदी-भाषी प्रांतों में उसका प्रचार होने लगा तब से वे अधिक उत्साहपूर्वक अपना संघटन और आंदोलन करने लगे हैं। कभी कभी तो वे आवेश में आकर यहाँ तक कह बैठते हैं कि हिंदी न तो कोई स्वतंत्र भाषा थी और न उसका कुछ साहित्य ही था। हिंदी में जो कुछ है वह थोड़े दिनों का गढ़ा हुआ है। और उर्दू के विषय में वे नाना प्रकार की निराधार बातें तक कहने में नहीं हिचकते। फलतः जिन लोगों को अन्य कामों में व्यस्त रहने के कारण उर्दू के पुराने नए लेखकों की रचनाओं के अध्ययन करने की छुट्टी नहीं मिलती वे बहुधा उन्हीं से सुनी-सुनाई बातों के आधार पर भाषा के संबंध में अपना ज्ञान सीमित रखते और कभी कभी उसे व्यक्त करके और भी अनर्थ कर बैठते हैं।

इसको रोकने के लिये आवश्यक है कि लोगों के सामने सच्ची बातें रखी जायँ। कुछ दिनों से इस ओर विद्वानों का ध्यान गया है। पंडित चंद्रबली पांडे ऐसे ही विद्वानों में से हैं जिन्होंने भाषा की समस्याओं के सुलझाने में प्रशंसनीय

योग दिया है। पांडेजी ने फारसी और उर्दू का सम्यक् रीति से अध्ययन किया है। उन्होंने भाषा के प्रश्न पर अच्छी तरह विचार भी किया है। वे कोई बात निराधार नहीं कहते। उनके निष्कर्ष प्रमाणों से पुष्ट होते हैं। इसी से उनके लेख, जो पत्र-पत्रिकाओं में भी बराबर प्रकाशित होते रहते हैं, यथेष्ट सम्मान से पढ़े जाते हैं। 'सभा' के अनुरोध से पांडेजी ने अपने उन लेखों का संकलन कर दिया है जिनमें विविध क्षेत्रों में उर्दू के जिस स्वरूप को दिखाने का यत्न किया जाता है उसका वास्तविक तथ्य प्रकट कर दिया गया है। इनमें से अंतिम दो उन्होंने इसी संग्रह के लिये प्रस्तुत किए हैं, शेष पत्र-पत्रिकाओं में छप चुके हैं। उन्होंने इन लेखों में, एक साथ प्रकाशित होने पर, आवश्यकतानुसार परिमार्जन भी कर दिया है। इससे, भिन्न भिन्न शीर्षकों से संबद्ध होने पर भी, इनमें क्रमबद्धता है।

हमें पूरा विश्वास है कि इस पुस्तक को पढ़कर पाठक उर्दू के संबंध में आजकल जो कुछ कहा-सुना जा रहा है उसके मूल में क्या है यह जानकर उसके प्रतिकार का उपाय सोचने के लिये प्रेरित होंगे।

काशी नागरीप्रचारिणी-
सभा भवन,
आषाढ़ (मिथुन) सौर, १२, १९९७

रामबहोरी शुक्ल
प्रधान मंत्री

सूचीपत्र

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	शुद्ध	अशुद्ध
१५	१३	फेलन	लन
१०१	२	गारज	गा च

उर्दू का रहस्य

उर्दू का उद्गम

उर्दू के सच्चे संकेत को छिपाकर नीतिवश उसकी जो मनमानी 'लश्करी और बाजारी' व्याख्या की गई वह इतनी सर्वप्रिय और काम की सिद्ध हुई कि आज इस खोज के युग में भी लोग उसी का गुणगान करते जा रहे हैं और भूलकर भी इतना सोचने का कष्ट नहीं उठाते कि क्योंकर किसी लश्कर या लश्करी बाजार की भाषा राष्ट्र की शिष्ट और व्यापक भाषा हो सकती है। किसी भी लश्कर या बाजार की कामकाजी भाषा को राष्ट्र या काव्य की भाषा की पदवी प्रदान कर देना साहस नहीं बुद्धि और विवेक का उपहास है। आश्चर्य और चित्त को चकित कर देनेवाली अद्भुत एवं विलक्षण बात तो यह है कि सर जार्ज ग्रियर्सन जैसे प्रखर प्रतिभासम्पन्न भाषाविदों ने भी उर्दू के इस जाली संकेत को शुद्ध मान लिया है और उसी के कल्पित आधार पर उसमें हिंदियों का योग भी अधिक मान लिया है। और यहाँ तक कहने का साहस कर लिया है कि उर्दू का व्यापक प्रचार मुगल सामंतों के द्वारा हुआ पर कभी यह सोचने का कष्ट नहीं किया कि अकबर से लेकर शाहजहाँ

क्या औरंगज़ेब तक मुगलों ने जिस देशभाषा का स्वागत किया वह उनकी राजधानी की भाषा व्रजभाषा थी न कि खड़ी बोली, उर्दू या कोई और हिंदुस्तानी। औरंगज़ेब जैसे कट्टर मुगल मुसलिम शासक ने तो ब्रजभाषा को इतना महत्त्व दिया कि उसके एक व्याकरण, पिंगल और कोश का संपादन भी उसकी छत्रछाया में हो गया। उसकी इस भाषा-निष्ठा पर रीझकर अल्लामा शिबली नुमानी ने तो यहाँ तक खोज निकाला कि :

"ब्रजभाषा की जिस क़दर इसके ज़माने में तरक्की हुई, मुसलमानों ने जिस कदर इसके ज़माने में हिंदी किताबों के तरजुमे किए, और ख़ुद जिस क़दर व्रजभाषा में नज़्म व नस्र लिखी, किसी ज़माना में इस क़दर हिंदी की तरफ़ इल्तफ़ात नहीं ज़ाहिर किया गया था"[1]।

यही क्यों, अभी उस दिन मुहम्मदशाह रँगीले के दरबार ने व्रजभाषा को सराहा था और खान आरज़ू (मृ० ११६९ हि०) ने व्रजभाषा ही को शिष्टभाषा माना था। उनकी इस चेष्टा पर आश्चर्य कर जनाब महमूद शेरानी साहब फरमाते हैं :

"सबसे ज्यादा जिस बात से त,अज्जुब होता है वह है कि खान देहली की ज़बान और उर्दू को भी वक़्अ,त की निगाह से नहीं देखते। उनके नज़दीक हिंदोस्तानी ज़बानों में सबसे

१—मुक़ालाते शिबली, जिल्द दोम, मारिफ़ प्रेस आज़मगढ़, सन् १९३१ ई०, पृ० ६३।

ज़्यादा शाइस्ता और मुहज्जब ज़बान ग्वालियारी है। चुनांचे इसी ग्वालियारी के अल्फ़ाज़ अक्सर मौक़ों पर न.क्ल किए हैं और उर्दू से बहुत कम सनद ली है"[१]।

अस्तु, उर्दू भाषा के सच्चे सकेत के लिये हमें मुगल-सामंतो के पास जाने और लश्कर एव बाजार की ख़ाक छानने की जरूरत नहीं। उर्दू भाषा का अर्थ स्पष्ट है। सुनिए। सैयद सुलैमान साहब नदवी जैसे भाषा-मनीषी का कहना है :—

"आजकल बाज़ फ़ाज़िलों ने 'पंजाब में उर्दू' और बाज़ अह्ले दकन ने 'दकन में उर्दू' और बाज़ अज़ीज़ों न 'गुजरात में उर्दू' का नारा बुलन्द किया है। लेकिन हक़ीक़त यह मालूम होती है कि हर मुमताज़ सूबे की मुक़ामी बोली म मुसलमानों की आमद व र.फ्त और मेलजोल से जो तग़ैयुरात हुए उन सबको नाम उर्दू रक्खा गया है। हालाँ कि उनका नाम पंजाबी, दक्खिनी या गुजराती और गूजरी वग़ैरह रखना चाहिए, जैसा कि उस अहद के लोगों ने कहा है। यह तग़ैयुरात जब मुमताज़ सूबों में हो रहे थे तो .ख़ुद पायेत.ख्त दहली में तो और ज़्यादा होते"[२]।

अल्लामा सैयद सुलैमान साहब का कहना सर्वथा साधु है। उर्दू शब्द का व्यवहार एक निश्चित अर्थ म ही करना चाहिए।

१—ओरियंटल कालेज मेगजीन, हिस्सा अव्वल, लाहौर नवबर सन् १६३१ ई०, पृ० १० ।

२—मुकालाते उर्दू, अंजुमने उर्दू-ए-मुअल्ला, मुसलिम यूनीवर्सिटी प्रस, अलीगढ, सन् १६३४, पृ० ४१ ।

किंतु उनका यह दावा ठीक नहीं कि दक्खिनी और गूजरी मुक़ामी बोलियों का नाम है। इसकी कुछ चर्चा राष्ट्रभाषा की परंपरा[1] शीर्षक लेख में हो चुकी है। प्रसंगवश यहाँ इतना स्पष्ट कह देना है कि उक्त भाषाएँ वस्तुतः राष्ट्र-भाषा हिंदी की देशगत बोलियाँ हैं। यही कारण है कि उनके लेखकों ने कभी कभी उनको हिंदी भी कहा है। हाँ, तो

"अमीर खुसरा और अबुल्फ़जल दोनों ने देहलवी जबान का अलग नाम लिया है। अहद शाहजहानी में जब यहाँ उर्दू-ए-मुअल्ला बना तो उस जबाने देहली या जबाने-देहलवी का नाम जबाने-उर्दू ए मुअल्ला पड गया। चुनांचे लफ्ज उर्दू जबान के माने में देहली के अलावा किसी सूबे की जबान पर एतलाक नहीं पाया है। मीर तकी 'मीर' की तहरीरी सनद में जब इसका नाम पहली दफा आया है तो इस्तेलाह के तौर पर नहीं बल्कि लुगत के तौर पर आया है। याने 'मीर' ने 'उर्दू जबान' नहीं कहा, बल्कि 'उर्दू की जबान' कहा है।"[2]

उक्त मौलाना ने 'उर्दू जबान' और 'उर्दू की जबान' में जो भेद बताया है वह बहुत ही विचारणीय है। मीर तकी 'मीर' ने

१—देखिए भाषा का प्रश्न, नागरीप्रचारिणी सभा काशी, संवत् १९९६ वि०, पृ० ३९ से ४५।

२—मुकालाते उर्दू, अंजुमने उर्दू-ए-मुअल्ला, मुसलिम यूनीवर्सिटी प्रेस, अलीगढ, सन् १९३४ ई०, पृ० ४९।

क्यों 'उर्दू ज़बान' न कहकर 'उर्दू की ज़बान' कहा, यह भी तनिक सोचने की बात है। सच्ची बात तो यह है :—

"जिन मोवर्रिख़ोने उर्दू ने अहदे शाहजहानी को उर्दू की नशोनुमा का अहद क़रार दिया है वह शाहजहाँ के उर्दूएमुअल्ला की मुनासिबत से इसका नाम उर्दू रखा जाना तजवीज़ फ़रमाते हैं। मगर इसकी कोई सनद नहीं कि अहद मज़कूर में इस ज़बान का नाम उर्दू था। इंतहा यह है कि दिल्ली के उर्दू बाज़ार का नाम भी उस अहद में यह न था। हमने ऊपर साबित किया है कि इतहा से आख़िर तक हमारी ज़बान का नाम हिंदी रहा। जब 'वली' दकनी ने मज़ामीन फ़ारसी की चाशनी हिंदी नज़्म में पैदा की तो ख़ास अदबी व शेरी ज़बान को रेख़ता कहने लगे। उस वक़्त तक भी उर्दू का लफ़्ज़ इस ज़बान के लिए मुस्तामल न हुआ था। चुनांचे मीर तक़ी 'मीर', मीर हसन देहलवी, कयाम उद्दीन 'क़ायम' ने अपने अपने तज़किरों में कलाम उर्दू के लिये रेख़ता ही का लफ़्ज़ इस्तेमाल किया है। उर्दू का लफ़्ज़ इस मफ़हूम में इस्तेमाल नहीं किया। ज़िक्रे मीर और तज़किरा नेकातश्शुअराय में मीर साहब लिखते हैं :

"दरफ़ने रेख़ता कि शेरेस्त बतौर शेर फ़ारसी बज़बाने उर्दू-ए-मुअल्ला शाहजहाँ आबाद देहली"।[१]

१—दीबाचा नेकातश्शुअराय।

"रेख़ता कि शेरेस्त बतौर शेरफ़ारसी बज़बाने उर्दू एमुअ़ल्ला बादशाह हिंदोस्तान"[1]।

"क्या इसमें यह नतीजा अख्ज़ हो सकता है कि उर्दू का मौलद व मावा दरबार था न बाज़ार। और उर्दू उर्दू बाज़ार से नहीं निकली बल्कि उर्दू बाज़ार उर्दू के लिये बनाया गया है"।[2]

नवाब सदरयार जंगबहादुर ने कहने को तो सच्ची बात कह दी पर उसे खुलकर कह दिखाने अथवा सिद्ध करने की चेष्टा नहीं की। हाँ, कृपा कर इतना और कह दिया—

"ताशकंद और .ख़ूकंद में अब उर्दू क़िला के माने में मुस्तामल है। इसी लिये दिल्ली का क़िला उर्दू एमुअ़ल्ला कहलाया होगा"।[3]

'*किलामुअ़ल्ला*' '*और* '*उर्दू एमुअ़ल्ला*' की एकता में किसी को संदेह नहीं। 'लालकिला' भी 'किलामुअ़ल्ला' का एक ठेठ नाम है। अब देखना यह है कि 'उर्दू की ज़बान' में 'उर्दू' का अर्थ यही 'किलामुअ़ल्ला' है अथवा कुछ और। संयोग से जनाब 'अरशद' गोरगानी की साक्षी मिल गई। उन्होंने साफ़ साफ़ कह दिया कि :

१—ज़िक्रे मीर।

२—मुकालाते उर्दू, अंजुमने उर्दू-ए-मुअ़ल्ला, मुसलिम यूनीवर्सिटी प्रेस, अलीगढ, सन् १९३४ ई०, पृ० ६७।

३—मुकालाते उर्दू, वही पृ० ६७।

"अगर चे उसमें नहीं रहा दम, फ़क़त ज़बाँ पर है उसका मातम,
वह क़िला कहता था जिसको आलम, कि हिंद में है यह काने उर्दू" ।

'उर्दू की कान' का पता चल गया। अब थोड़ा यह देख लीजिए कि 'उर्दू की जबान' का प्रचार किस प्रकार किया गया और कब तक उर्दू 'उर्दू की जबान' के रूप में चालू रही। सबसे पहले मीर अम्मन देहलवी को लीजिए। इन्हीं महानुभाव ने 'लश्कर का बाजार शहर में दाखिल' कर और 'आपस में लेनदेन, सौदासुल्फ, सवाल जवाब' की कल्पना कर उर्दू को 'बाजारी' और 'लश्करी' जबान बना दिया नहीं तो वह वस्तुतः थी 'दरबारी' जबान। किंतु ध्यान देने की बात है कि स्वयं मीर अम्मन ने 'उर्दू की जबान' का ही व्यवहार किया है। उनका कहना है :

"साहबाने जीशान को शौक हुआ कि उर्दू की जबान से वाक़िफ होकर हिंदुस्तानियों से गुफ्त व शुनूद करें और मुल्की काम को बागाही तमाम अंजाम दें। इस वास्ते कितनी किताबें इसी साल १८०१ ई० में बमूजिब फरमाइश के तालीफ हुईं।"[१]

'मुल्की काम' को अंजाम देने के लिये फारसी की जिस भावती को सराहा गया वह उर्दू यानी दरबार की जबान थी। मीर अम्मन उसी दीबाचे में यद्यपि हिंदुस्तानी की भी तान छेड़ जाते हैं पर कहते हैं सर्वत्र उसे 'उर्दू की जबान' ही। देखिए :
"हक़ीकत उर्दू की जबान की बुजुर्गों के मुँहसे यूँ सुनी है"।

१—बाग़ोबहार का दीबाचा।

"निदान जबान उर्दू की मँजते मँजते ऐसी मँजी कि किसी शहर की बोली उससे टक्कर नहीं खाती"।

अच्छा हो, लगे हाथों उसी फोर्ट विलियम कालेज के एक दूसरे मुंशी मीर शेर अली अफ्सोस 'लखनवी' की सनद भी आपके सामने पेश कर दी जाय। शाहजहानाबाद के प्रसंग में आप अपनी प्रसिद्ध किताब आराइशे मेहफिल में कहते हैं :

"बहुत मैंने यूँ इसकी तारीफ़ की,
है उर्दू की बोली का माखज़ यही।"

इस उर्दू की बोली की कड़ी पाबन्दी को देखना हो तो मीर शेरअली अफ्सोस के इस कथन पर ध्यान दें :

"अवध लखनऊ वगैरह के गँवार जमींदार ऊख कहते हैं, और दिल्ली के कुर्ब व जवार के ईख। अकसाम इसके बहुत हैं और हर क़िस्म का एक नाम अलहदा है लेकिन साहिबाने उर्दू की जबान पर सिवाय गन्ने, क्तारे, पौंडे के और क़िस्मों का नाम जारी नहीं' [१]।

साहिबाने उर्दू का परिचय प्राप्त करने के पहले उर्दू की जबान का एक शाइरी अखाड़ा भी देख लीजिए। उस्ताद 'मसहफी' को फक्कड़ सैयद इंशा ने किस शान से चित कर दिया है और उनकी जबान पकड़ कर उर्दू की जबान की छवि दिखा दी है। देखिए आप किस तुर्रे के साथ फरमाते हैं

१—आराइशे महफ़िल, चन्द सतरें मेवों के वस्फ़ में।

"मुश्फ़िक़ कड़ी कमान की कड़री न बोलिए,
चिल्ला के मुफ़्त तीर मलामत न खाइए।
उर्दू की बोली है यह ! भला खाइए क़सम,
इस बात पर अब आप ही मसहफ़ उठाइए।"[१]

देखा आपने ? यह है उर्दू की बोली जिसका निर्वाह उस्ताद 'मसहफ़ी' भी न कर सके और अंत में क़ुरान शरीफ़ की कसम खाने की नौबत आ गई। फिर आप इस 'उर्दू की ज़बान' और इस 'उर्दू की बोली' को 'लश्कर' की 'बोली' या 'बाज़ार' की 'ज़बान' क्यों समझते हैं ? क्या आपको पता नहीं कि उर्दू के लोग 'लश्कर' की 'सतबेझड़ी' और 'बाजार' की 'सूक़ियानी' या 'बाजारी ज़बान' को किस निगाह से देखते हैं ? यदि हाँ तो क्या आप 'उर्दू की ज़बान' को 'लश्कर' या 'बाजार' की ज़बान इसी लिये मानते या बताते हैं कि उर्दू का लुग़ती अर्थ लश्कर और बाजार होता है ? अच्छा, हम आपको यह स्पष्ट बता देना चाहते हैं कि 'उर्दू की ज़बान' में 'उर्दू' का सटीक अर्थ क्या है। आपने पहले ही सुन लिया है कि 'उर्दूएमुअल्ला' का

१—मौलाना आजाद ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक आबेहयात म इसकी खूब चर्चा की है। मसहफ़ी' और 'इशा' की नोकझोंक प्रसिद्ध ही है। सैयद इशा 'मसहफ़ी' शब्द को पकड़ते और 'मसहफ़ी' से कहते हैं कि यदि तुम सचमुच मसहफ़ी हो तो अब 'क़ुरान मजीद' को उठाकर कसम खाओ कि तुम्हारा प्रयोग ठीक है। 'मसहफ़ उठाना' का अर्थ है क़ुरान शरीफ़ को उठाकर शपथ खाना।

बराबर व्यवहार हुआ है 'किलामुअल्ला' अथवा शाहजहानाबाद के लालकिला के लिये और आपने देख भी लिया है कि जनाब 'अरशद' गोरगानी ने खुले शब्दों में उसी को उर्दू की ग्यान कहा है। अब यहाँ तनिक उसी फक्कड़ी इंशा की भी गवाही लीजिए कि 'उर्दू' क्या है। उसका फ़ारसी में कहना है कि :

"ईं मजमा हरजा कि बिरसद औलाद आंहा दिल्लीवाल शुदः शवन्द व महल्लः ईं शाँ महल्लः अहल देहली। व अगर तमाम शहर रा फरा गीरन्द आँ शहर रा उर्दू नामन्द। लेकिन जमा शुदन ईं हजरात दर हेच शहरे सिवाय लखनऊ निस्द फ़क़ीर साबित नीस्त। गो बाशिन्दगाने मुर्शिदाबाद व अज़ीमाबाद बजात .खुद .खुदरा उर्दूदाँ व शहर .खुद रा उर्दू दान द।"[1]

सैयद इंशा का सीधा सादा अर्थ यह है कि यह संघ जहाँ कहीं जाता है, इसकी सतान को 'दिल्लीवाला' और इसके महल्ले को दिल्लीवालों का महल्ला कहते हैं। और यदि इन लोगों ने सारे शहर को घेर लिया तो उसको उर्दू कहते हैं। किंतु लखनऊ के अतिरिक्त और किसी शहर में उनका बस जाना सिद्ध नहीं होता। कहने को तो मुर्शिदाबाद और पटना मे बस जानेवाले भी अपने आप को 'उर्दूदाँ' और अपने शहर को 'उर्दू' कहते हैं।

सैयद इंशा ने खुलकर जो कुछ कहा है उसी की प्रतिध्वनि मीर अम्मन देहलवी के इस कथन में सुनाई देती है :—

---

[1]—दरियाए लताफ़त, अञ्जुमने तरक्कीये उर्दू, (हिंदी) दुरदानये सोम, नाजिर प्रेस, लखनऊ, सन् १९१६ ई०, पृ० ७३।

"अहमदशाह अबदाली काबुल से आया और शहर को लुटवाया। शाह आलम पूरब की तरफ से कोई वारिस मुल्क का न रहा। शहर बे सर हो गया। सच है कि बादशाहत के इकबाल से शहर की रौनक थी। एकबारगी तबाही पड़ी। रईस वहाँ के मैं कहीं और तुम कहीं होकर जिसके सींग समाए वहाँ निकल गए। जिस मुल्क में पहुँचे वहाँ के आदमियों के साथसंगत से बातचीत में फ़र्क़ आया और बहुत ऐसे हैं कि दस पाँच बरस किसी सबब से दिल्ली में गए और रहे। वे भी कहाँ तक बोल सकेंगे। कहीं न कहीं चूक ही जावेंगे।"[१]

तात्पर्य यह कि उर्दू के धनी उर्दू को सदा से भाषा की छूत से बचाते रहे हैं, और उन लोगों को भी अपनी जबान से छाँट बाहर करते रहे हैं जो उर्दू के होते हुए भी उर्दू से कुछ दूर पड़ गए हैं। यही कारण है कि अजीमाबाद (पटना) और मुर्शिदाबाद के लोग उर्दू के होते हुए भी उर्दू की टकसाल से बाहर कर दिए गए। रही लखनऊ की बात। सो उसके विषय में इतना संकेत कर देना पर्याप्त है कि दिल्ली की तबाही के बाद उर्दू की रोटी उसी के हाथ में रह गई और उसी ने उर्दू को सर चढ़ाया। फलतः सैयद इंशा ने उसे भी 'उर्दू' मान लिया। पर यह उर्दू है क्या? क्यों लोग उस शहर

१—बाग़ो बहार का दीबाचा।

को 'उर्दू' कहने लग जाते थे जिसमें देहली के लोग जा बसते थे? क्या इसका भी कुछ रहस्य है?

बात यह है कि उर्दू वस्तुतः मुगल-भाषा का शब्द है। मुगलों की प्रथा यह थी कि जब मुगल अमीर घर से बाहर किसी पडाव पर जाते थे तो अपने बालबच्चों को साथ ले लेते थे। उनके इसी बाहरी पडाव का नाम उर्दू होता था। चंगेज खाँ से लेकर सैयद इंशा के समय तक उर्दू का यह प्रयोग प्रत्यक्ष दिखाई देता है। अकबर और जहाँगीर के कुछ ऐसे सिक्के भी मिले हैं जिनपर टकसाल का नाम उर्दू लिखा हुआ है। जहाँगीर के एक सिक्के पर तो 'उर्दू दरराहे दकन' भी मिलता है। मतलब यह कि 'उर्दू' का एक निश्चित प्रयोग है। पर यह निश्चित प्रयोग हमारी 'उर्दू की जबान' की जबान के समझने में कुछ अडचन उत्पन्न कर देता है। कारण प्रत्यक्ष है। यह एक जातिवाचक शब्द है। हम यहाँ जिस उर्दू की जबान पर विचार कर रहे हैं वह एक व्यक्तिवाचक संज्ञा है। इस उर्दू का अर्थ है 'उर्दूएमुअल्ला' अथवा देहली का लालकिला। किंतु किलामुअल्ला का नाम उर्दूएमुअल्ला क्यों पडा और क्यों किलामुअल्ला के लोग बाहर बस जाने पर उस निवास या उपनिवेश को उर्दू कहते थे, यह इस विवेचन से स्पष्ट हो गया। अब आप 'उर्दू' का चाहे जो अर्थ करें पर आपको विवश हो मानना ही पडेगा कि 'उर्दू' का सच्चा लगाव मुगल बादशाहों से ही है। फिर भी 'उर्दू की जबान' के उर्दू का

संबंध जातिगत न होकर केवल व्यक्तिगत ही है। अर्थात् उसका उद्गम स्थान या अड्डा उर्दू मात्र नहीं बल्कि शाहजहानाबाद का उर्दूएमुअल्ला ही है।

उर्दूएमुअल्ला की जबान उर्दू के नाम से ख्यात हुई तो सही किंतु उसे टकसाली होने की सनद तब मिली जब उसे फारसी की जगह शाही जबान होने का फख्र हासिल हुआ। हम पहले ही देख चुके हैं कि खान आरजू ने जिस लोक-भाषा को श्रेष्ठ ठहराया है वह ग्वालियारी या व्रजभाषा है, कुछ देहलवी या उर्दू नहीं। उर्दू यानी शाही लोगों की हिंदी जबान को सनदी बनाने का सारा श्रेय जनाब 'उस्ताद' 'हातिम' को है जिन्होंने अपने दीवानजादे की भूमिका में स्पष्ट कर दिया है कि उनके दीवान की भाषा शाही लोगों की भाषा है। उन्होंने उर्दू का स्पष्ट उल्लेख न कर उसकी व्याख्या भर कर दी है। उनका साफ साफ कहना है :—

"बरोजमर्रः देहली की मिरजायाने ,हिंद व फसीहाने रिंद दर मुहावरः दारद मंजूर दाश्तः सिवाय आँ जवाने हर दयार ता ब हिंदवी कि आँ रा भाका गोयंद मौ.कूफ करदः।"

खान आरजू के मरते ही समय ने पलटा खाया। उसी का यह क्रूर परिणाम है कि, उनकी सनदी भाषा का बहिष्कार हुआ और तैमूरी शाहजादों और फक्कड़ी फारसीपरस्तों की जबान की टकसाल कायम हुई जो कटछट कर सचमुच उर्दू

बन गई। उर्दू की टकसाल अब सिक्कों की जगह शब्दों पर अपनी छाप जमाने लगी और ठेठ हिंदी शब्दों को भी अरबी-फारसी बना दिया। लखनऊ की उर्दू टकसाल ने तो वह कर दिखाया जो उर्दू की असली टकसाल से भी न हो सका था। खैर, यह सिद्ध करना था कि वस्तुतः उर्दू का लश्कर या बाज़ार से कोई सबब नहीं। सचमुच उर्दू उर्दू की यानी किलामुअल्ला की जबान है। उसका सच्चे हिंदियों से कोई मेल नहीं। यही कारण है कि जनाब 'अरशद' गोरगानी ने दिनदहाड़े दिलेरी के साथ यह दावा पेश कर दिया है :

"कभी वह दिन थे कि इस ज़बाँ के, हमीं थे वारिस हमीं थे हाकिम;
और अब सँभाली है गजदारों ने, सूद लेकर दूकाने उर्दू।
यह सौदेवालों से कोई कह दो, कि ख़ाह सौदे को मुफ़्त बेचो,
तुम्हारी सौदागरी से हरगिज़, नहीं है जर्रः ज़ियाने उर्दू।
जबाने उर्दू के हम हैं वाली हमीं हैं मोवजिद हमीं हैं बानी,
मकीं नहीं हम तो देख लेना रहेगा वीराँ मकाने उर्दू।"[1]

सभव है, पद्य में होने के कारण आप इसे कवि की कोरी कल्पना कहकर टाल दें और उर्दू को शाही शाहज़ादों की चीज न समझें इसलिये इसको और भी खुले रूप में देख लीजिए। उन्हीं 'अरशद' गोरगानी का कहना है :

१—फ़रहंगे आसफ़िया, तकारीज़, जिल्द चहारुम, रफ़ाहे आम प्रेस, लाहौर सन् १९०१, पृ० ८५५ ई०।

"यह बात सबने तसलीम कर रक्खी थी कि असली उर्दू शाहजादगाने तैमूरियः की ही जबान है और लालकिलः ही इस जबान की टकसाल है। इसलिये सैयद खास हमें और चद और अजीज शाहजादों को बुलाते थे, आम से गर्ज़ न थी।"[१]

इस प्रसंग में भूलना न होगा कि उक्त सैयद ने अपनी जबाँदानी के लिये जो सनद हासिल की थी उसमें भी स्पष्ट कहा गया था—

"चूँकि यह शख्स यहाँ का बाशिंदः है और अक्सर शाहजादों की सोहबत से बहरहयाब होता रहा है और इन्हीं लोगों पर यहाँ की जबान का दारोमदार है, इस सबब से मैं यक़ीन करता हूँ कि शायद इससे बेहतर कोई शख्स इस बाजी को न ले।"[२]

याद रहे, यह वही उर्दू की सनद है जो श्री एम० डब्ल्यू० लन के सामने पेश हुई थी और जिसके प्रमाण पर सैयद अहमद देहलवी को उन्होंने अपने कोश का हिंदुस्तानी सहायक बनाया था।

स्वयं सैयद अहमद देहलवी उर्दू को क्या समझते हैं, कुछ इसका भी पता हो जाना चाहिए। उनको दुःख है कि :

"इस जबान के हकीक़ी वारिसों ने आठ पहर काम करने-वाले लोगों की खातिर इसे एक बेवारिस बच्चः समझ कर खुद

१—फ़रहंगे आसफ़िया, तकारीज़, जिल्द चहारुम, रफ़ाहे आम प्रेस, लाहौर सन् १९०१, पृ० ८४५ ई०।

२—वही, पृ० ८१२।

छोड़ दिया।......बल्कि यहाँ तक कानों में तेल डालकर बैठे कि जिन लोगों को उर्दू ज़बान का नरफ़: पाना तो कैसा बोलने तक का सलीक़: नहीं वह इस ज़बान के लुगतनिगार, मुहावर:दाँ, इस्तेलाहफ़हम, मुफ़स्सिर, अहले ज़बान ख़ुदबख़ुद बन बैठे। मगर यह चुपके बैठे किसी मसलहत और वक़्त के इन्तज़ार में मैर देखा और इस तरह दिल को तसल्ली दिया किए।"[१]

मतलब यह कि :

"अब कोई दिन में ख़ालिस उर्दू ज़ुबान का सिर्फ़ नाम ही नाम रहकर इन नए ज़र्रादानों और नवदौलतों के हाथों कुछ से कुछ रंग हो जायगा और यह एक बेढंगी उर्दू बन जायगी। इसकी फ़साहत व बलाग़त, शुस्तगी व सलासत क़िल:वालों की तरह ख़ाक़ में मिल जायगी और दिल्लीवालों की तरह ज़मीन का पैवन्द हो जायगी तो हाथ मलने के सिवा कुछ भी हाथ न आयगा। कोई दिन जाता है कि यह नारतगरे ज़बान इसे भी बेनाम व निशान कर देंगे।"[२]

'किलावालों' और 'दिल्लीवालों' के विषय में कुछ विशेष रूप से कहने की आवश्यकता नहीं। शाह हातिम के 'मिरज़ायाने हिन्द' और 'फ़सीहाने रिंद' से लेकर मौलवी सैयद अहमद

१—फ़रहंगे आसफ़िया, पहली जिल्द, सबब तालीफ़ पृ० २४।

२—वही, पृ० २३।

देहलवी के 'क़िलावालों' और 'दिल्लीवालों' तक आपको एक ही बात दिखाई देगी कि

"हम अपनी जबान को मरहठीबाजों लावनीबाजों की जबान, धोबियों के खंड, जाहिल .ख्यालबंदों के ख्याल, टेसू के राग यानी बेसर व पा अल्फाज का मजूमअ: बनाना कभी नहीं चाहते और न उस आजादान: उर्दू को ही पसंद करते हैं जो हिंदुस्तान के ईसाइयों, नवमुसलिम भाइयों, ताजः विलायत साहब लोगों, खानसामाओं, खिदमतगारों, पूरब के मनहियों, कैम्प ब्वायों और छावनियों के सतबेझड़े वाशिंदों ने एक तयार कर रखी है। हमारे जरीफ़ुल्तबा दोस्तों ने मजाक़ से इसका नाम पुड्डू रख दिया।"[१]

तात्पर्य यह कि उर्दू वस्तुतः उन लोगों की हिंदी जबान है जो "तुर्कीउल्पस्ल थे या फ़ारसीउल्पस्ल या अरबीउल्पस्ल। यह हिंदी की मुतावक़त किस तरह कर सकते थे"[२] कि उर्दू किसी छावनी या बाजार में मेलजोल, लेनदेन, सौदासुल्फ से बनती। उसकी असलियत तो यह है कि

".खुशबयानान आँजा मुत्तफ़िक़शुद: अज जबानहाय मुतहिद अल्फ़ाज दिलचस्प जुदा नमूद: व दरबाजे इबारात व

१—फ़रहंगे आसफ़िया, जिल्द अव्वल, सबब तालीफ़, वही,पृ०२३।

२—वही, मोकद्दमा पृ० ८।

अल्फ़ाज तसर्रुफ वकार बुर्दः ज़बाने ताज: सिवाय ज़बानहाय दीगर वहम रसानीदंद व उर्दू मौसूम साख़तन्द ।"[1]

आश्चर्य की बात है कि उर्दू के इतिहास-लेखकों ने भूलकर भी सैयद इंशा के इस कथन पर ध्यान नहीं दिया कि

"शाहजहानाबाद के शिष्ट लोगों ने एकमत होकर अन्य अनेक भाषाओं से दिलचस्प शब्दों को चुना और कुछ शब्दों तथा वाक्यों में हेर फेर करके अन्य भाषाओं से अलग एक नई भाषा बना ली और उसका नाम उर्दू रख दिया।" उलटे लिख यह दिया कि उर्दू 'लश्कर' या 'बाज़ार' में '.खुद ब .खुद' पैदा हो गई। परंतु जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, उर्दू का किसी सामान्य 'लश्कर' या 'बाज़ार' से कोई संबंध नहीं। अब यदि उर्दू के विषय में और कुछ अच्छी तरह जानना हो तो कृपया सैयद इंशा का अध्ययन करें और प्रत्यक्ष देख लें कि उन्होंने 'दरियाएलताफ़त' में उर्दू के लिये क्या लिखा है और कहाँ तक उसे किसी 'लेनदेन,' 'सौदासुल्फ' अथवा 'मेलजोल' की ज़बान माना है। उनका तो नपा तुला फतवा यह है :

"सिवाय बादशाह हिंदोस्तान कि ताज फसाहत बर सर ओ मीज़ेबद, चंद अमीर व मुसाहिब शाँ व चंद ज़न क़ाबिल अज़ क़िस्म बेगम व ख़ानम व कसबी हस्तंद हर लफ्ज़े कि दरीहा इस्तैमाल याफ़ ज़बान उर्दू शुद न ईं कि हर कस कि दर

१—दरियाए लताफ़त वही पृ० २

शाहजहानाबाद मी बाशद हरचि गुफ्तगू कुनद मोतबर बाशद।"[१]

अस्तु, सैयद इंशा ने भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है कि उर्दू के सर्वप्रथम अधिकारी बादशाह यानी तैमूरी लोग हैं। उन्हीं के सर पर फसाहत का ताज है। उनके बाद जिन लोगों को महत्त्व मिला है वे उन्हीं के लग्गूबज्झू लोग हैं। 'अमीर', 'मुसाहिब,' 'बेगम', 'खानम', 'कसबी' आदि सभी तो उर्दू या दरबार के लोग हैं। फिर उनकी शाही जबान की पुतली क्यों न सनद मानी जाय? रहे शाहजहानाबाद के शेष लोग उनके लिये सैयद इंशा का स्पष्ट आदेश है कि उनकी भाषा प्रमाण नहीं। उनका विश्वास नहीं। चाहे वे हिंदू हों या मुसलमान, भाषा के क्षेत्र में दोनों ही हिंदुस्तानी होने के अपराधी हैं।

समझ में नहीं आता कि इतने पुष्ट प्रमाणों और इतने पक्के इतिहासों के होते हुए भी लोग किस मुँह और किस जबान से, किस बूते और किस आधार पर यह दावा करते हैं कि उर्दू 'लश्कर' में पैदा हुई, 'बाजार' में जन्मी और जाने क्या क्या 'सगुन' दिखा गई। अपने राम को तो यही सूझता और सच्चा जान पड़ता है कि उर्दू वस्तुतः लालकिला में पैदा की गई और

१—दरियाए लताफ़त, अंजुमने तरक़्क़ीए उर्दू (हिन्द) वही, पृ० ६४।

फारसी के लद जाने पर उसकी जगह नीतिवश 'आमफ़हम' बताई गई। भाग्य की बात अथवा दिनों का फेर इसे कहते हैं कि जिन्हें बोलने का शऊर न था वे ही हमारी भाषा के विधाता बन बैठे और हमारे प्राणप्रिय अत्यंत प्रचलित ठेठ शब्दों को पकड़कर दलेल में उनकी मनमानी गति करने लगे। इसका जो दुष्परिणाम हुआ उसका देशद्रोही रूप धीरे धीरे दानव के रूप में सामने आ रहा है और प्रति दिन कोई न कोई एक नया अखाड़ा जमाया जा रहा है। अतएव भाषाविदों और सत्य-प्रेमियों से हमारा आग्रह और अनुरोध है कि अब भाषा की खोज के क्षेत्र में 'बाबावाक्य प्रमाणम्' को मानकर आगे न बढ़ें, बल्कि साहस, निष्ठा और दिलेरी के साथ सत्य को असत्य से, ऋत को अनृत से भली भाँति बिलगाकर दिखा दें और कम से कम भारत की निरीह जनता को भाषा की भूलभुलैया में इधर उधर भटकने और व्यर्थ में 'मैं कहीं और तुम कहीं' की भूतनी से बचा लें। आशा है 'उर्दू की ज़बान' की जो चर्चा यहाँ की गई है वह शीघ्र ही अपने सच्चे रूप में देश के कोने कोने में फैल जायगी और मर्मज्ञों की छाप से वह काम कर दिखाएगी जिसके बिना राष्ट्र आज पगु हो चला है और सकट के सधिकाल में 'तू तू' और 'मैं मैं' के दलदल में सचमुच फँस गया है।

उर्दू किसकी जबान है

बिहार सरकार के भूतपूर्व शिक्षा-सचिव डाक्टर सैयद महमूद ने पटना में 'अंजुमन तरक्की उर्दू' के नए भवन का बुनियादी पत्थर रखते समय कहा था—

"यह मुसलमानों की सख्त ग़लती है कि वह उर्दू को अपनी जबान कहते हैं। ऐसा करने से वह उर्दू को, जो सारे हिंदोस्तान की जबान है, नुकसान पहुँचा रहे हैं। इस जबान के उसूल बिल्कुल फितरी हैं और मुझे यकीन है कि यह तरक्की करेगी।"

उर्दू जबान किस तरह तरक्की करेगी इसका गुर यह है कि "हिंदुस्तानी दरअसल उर्दू ही है।" इसलिये जो कुछ बिहार में हिंदुस्तानी के लिये हो रहा है वह दरअसल उर्दू के लिये ही हो रहा है। पर यारों को इतने से ही संतोष कब हो सकता है? 'अंजुमने तरक्कीए उर्दू' (हिंद) भला कब इसे सहन कर सकती है? निदान उसने फरमान निकाल दिया कि—

"अगर डाक्टर साहब यह साबित कर दें कि किसी नामवर मुसलमान अदीब या शाइर ने उर्दू को मुसलमानों के साथ वाबस्ता किया है और कहा है कि उर्दू सिर्फ मुसलमानों की

ज़बान है तो हम डाक्टर साहब की ख़िदमत में एक तिलाई तमग़ः पेश करेंगे।"[१]

उक्त डाक्टर साहब ने इतना कह दिया यही क्या कम किया। अब उर्दू को सिर्फ मुसलमानों की ज़बान साबित कर उर्दू को हिंदुस्तानी बनने से वंचित क्यों करें? बिहार की 'हिंदुस्तानी कमेटी' की 'उर्दू हिंदुस्तानी' को देखें या 'सोने के तमग़े' के लिये अपनी ज़बान को बरबाद करें। उनके चुप साधने का परिणाम यह हुआ कि उर्दू सब की भाषा सिद्ध हो गई। किंतु स्मरण रहे कि यह चाल अधिक दिनों तक नहीं चल सकती। अब हिंदी या हिंदुस्तानी भी अपनी आँख से देखने लगे हैं और आज आपको भी दिखा रहे हैं कि देखिए, 'नामवर मुसलमान अदीब या शाइर' भी उर्दू को 'मुसलमानों की ज़बान' कहते हैं—उन मुसलमानों की जो वास्तव में 'नजीब' हैं कुछ ऐरे-ग़ैरे, नत्थू-ख़ैरे या पँचकल्याणी नहीं।

सैयद इंशा अल्लाह की राय

आशा है आपने भी सैयद इंशा अल्लाह ख़ाँ और उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'दरिया-ए-लताफ़त' का नाम सुना होगा। आज इतना और भी जान लें कि "उर्दू ज़बान के क़वायद, मुहावरात और रोज़मर्रह के मुतल्लिक़ इससे पहले कोई ऐसी मुस्तनद और मुहक़्क़िक़ानः किताब नहीं लिखी गई थी और अजीब बात यह

१—हमारी ज़बान, १६ मई सन् १६३९, ई० नई देहली, पृ० २।

है कि इसके बाद भी कोई किताब इस पाय: की नहीं लिखी गई। जो लोग उर्दू जबान का मुहक़्क़िक़ान: मुताला करना चाहते हैं या उसकी सर्फ व नह्वो या लुगत पर कोई मुहक्किकान: तालीफ़ करना चाहते हैं, उनके लिये इसका मुताला जरूरी ही नहीं बल्कि नागुरेज़ है।"[1]

ध्यान रहे यह सम्मति है 'अंजुमने तरक़्क़ीए उर्दू (हिंद)' के प्राण मौलाना अब्दुल हक की। इसलिये दरिया-ए-लताफ़त की सनद लीजिए और देखिए कि 'उर्दू' किसकी जबान है। कान खोलकर सुनिए। सैयद इंशा साफ साफ फारसी में फरमाते हैं।

"व मतलब अर्ज़ी तूल मकाल ईं बूदा अस्त कि मुहावरा उर्दू इबारत अज गोयाइये अहल इसलाम अस्त"।[2]

'अहल इसलाम' से उनका साफ मतलब है दरबारी 'नजीब' से। हिंदुओं के बारे में उनका कहना है कि

"बर साहेब तमीजान पोशीदा नेस्त कि हिंदुआन सलीक़ा दर रफ़्तार व गुफ़्तार व खोराक व पोशाक अज मुसलमानान याद गिरफ्ता अंद दर हेच मुकाम कौल व फेल ईंहा मनात एतबार नमी तवानद शुद।"[3]

१—दरिया ए लताफ़त, अंजुमने तरक्कीए उर्दू, नाजिर प्रेस, लखनऊ सन् १९१६ ई०, मोकद्दमा।

२—वही, पृ० १५।

३—वही, पृ० ९।

सारांश यह कि सैयद इशा सा 'नामवर मुसलमान अदीब और शाइर' डके की चोट पर साफ साफ कहता है कि जबान उर्दू शाहजहानाबाद के 'नजीब' दरबारी मुसलमानों की जबान है, कुछ उन हिंदुओं की नहीं जिन्होंने बोलना-चालना, खाना-पीना, रहना-सहना सब मुसलमानों से सीखा है, फिर भी 'उनका कौल व फेल' किसी एतबार के काबिल नहीं हुआ।

अच्छा, सैयद इशा को जाने दीजिए। वह एक मौजी जीव ठहरे और मौज में आकर भी ऐसा लिख सकते हैं। हैं भी इस समय शाहजहानाबाद से कुछ दूर लखनऊ में। अस्तु, अब एक ऐसी देहलवी मुसलिम हकपरस्त हस्ती को लीजिए जो 'रसूल' को 'बाबा' कहा करता था और जिसने हिंदुस्तान में वह कर दिखाया जो उससे पहले किसी से न हो सका था।

सर सैयद अहमद की सनद

शायद अब आपसे यह कहने की बात न रही कि वह पाक हस्ती और कोई नहीं बल्कि स्वर्गीय सर सैयद अहमद खाँ हैं। सर सैयद की सनद तो 'हमारी जबान' को अवश्य ही मान्य होगी, क्योंकि उनकी उपेक्षा किसी तरह हो नहीं सकती। वह 'रसूल' के वशज और देहली के 'नजीब' हैं। सरकार की ओर से भी 'सर' थे। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'असारुस्सनादीद' में यही सर सैयद अहमद खाँ बहादुर किस सचाई और दिलेरी से कह जाते हैं—

"इस वास्ते इसको जबाने उर्दू कहा करते थे और बादशाही अमीर उमरा इसी को बोला करते थे गोया कि हिंदुस्तान के मुसलमानों की यही जबान थी।"

सैयद इंशा और सैयद अहमद खाँ की सनद तो सामने है लेकिन बात अजीमाबाद यानी पटने की है और डाक्टर महमूद भी वहीं के शिक्षा-मंत्री थे। इसलिये वहीं के किसी अदीब की बात भी सामने रख दी जाय और हो सके तो बिहार की 'हिंदुस्तानी कमेटी' से प्रार्थना भी कर ली जाय कि जरा सावधानी से काम करो। उर्दू को हिंदुस्तानी के गवाँरू नाम से मुफ्त में बदनाम न करो। अरे, हिंदुस्तानी तो हिंदुस्तानियों की 'सीधी बोली' है, कुछ मुसलिम दरबारियों की पाक जबान नहीं।

मौलाना सफीर का मत

आरा-निवासी मौलाना 'सफीर' साफ-साफ कहते हैं—

"इसी लिये यह जबान मुसलमानों की जबान से पुकारी जाती है और मुसलमानों ही को इसके असली बाप होने का दावा है।"[1]

मौलाना 'सफीर' को इतने से ही संतोष नहीं होता बल्कि उन्हें विवश होकर यहाँ तक कहना पड़ता है—

"सच पूछिए तो इस जबान उर्दू के कायम रहने के लिये

१—तज़किरा जलवये ख़िज्र, हिस्सा अव्वल, नूरुल् अनवार प्रेस, आरा, १८८४ ई०, पृ० १६।

सरकार ही ने दस्तगीरी की मगर हम लोगों ने ख़ुद उसकी हिफ़ाज़त में कि हमारे जिम्मः दी गई थी पहलूतेही की। यह क्या थोड़ा है कि जिस ज़बान को मुसलमानों की खास ज़बान होने का तमग़ः मिला हो वह न अपने दरबार में उसको दख़ल दें और न उल्मा और फज़ला इल्म के मामूरह में उसको आने दें। उस ज़बान को एक ग़ैर मुल्क के रहनेवाले गैर ज़बान बोलनेवाले, ग़ैर तबीयत रखनेवाले मुल्की ज़बान समझ के[1] अपने दरबार में जारी करें और उसकी कूवत इस्तहकाम के लिये किताबें ढूँढ़ें तो सिवाय दीवान शुअ़रा के कुछ न पायें। उस पर भी अपनी हिम्मत को कम न करें। शुअ़राय उर्दू से किताब लिखने की फ़रमाइश करें।"[2]

यह है उर्दू के विषय में बिहार के दोस्त मौलाना 'सफीर' की सम्मति। क्या अब भी आप इस बात के समर्थक नहीं हैं कि उर्दू वास्तव में मुसलमानों, कुलीन मुसलमानों की निजी ज़बान है और उन्हीं के नाम के साथ यह बराबर चालू भी होती आ रही है? यदि नहीं तो एक बंगदेश के नवाब अदीब

१—'मुल्की ज़बान समझ के' से स्पष्ट है कि मौलाना सफ़ीर उर्दू को 'मुल्की ज़बान' नहीं समझते। कम से कम उस अर्थ में नहीं समझते जिस अर्थ में समझाने की आज जी जान से कोशिश हो रही है।

२—तज़किरा जलवये ख़िज़्र, वही, पृ० ६

ात सुनिए जो सचमुच बिहार का सपूत था। उसका कहना है—

"वली बेचारे का वह जबान कहाँ नसीब जो उर्दू-ए-मुअल्ला कही जाती और क़िलामुअल्ला और देहली के उमरा के महलों से अभी बाहर नहीं निकली थी। वह (वली) तो वही जबान बोलते थे जो उस वक्त दक्खिन में रायज और नर्वदा (दरिया) के उधर ही टापती रही।"[१]

और

"हक़ यह है कि हमारी उर्दू उस वक्त और उसके बहुत बाद तक हमारे उमरा और उनके खास मोतवस्सिलीन की जबान समझी जाती थी। आम लोग उनसे सीखते, उसे फैलाते और आगे बढ़ाते थे"।[२]

तो उर्दू सचमुच 'नजीब' या परदेशी मुसलमानों अथवा शाही लोगों की जबान है। अब इधर कांग्रेस के प्रभुत्व में आ जाने से अवश्य ही वह जोरों से 'मुश्तरका' और 'मुल्की जबान' घोषित की जाने लगी है, अन्यथा उर्दू आज भी उसी तरह सरकार की सहायता से आगे बढ़ना चाहती है जिस

१—मुग़ल और उर्दू, अदीबुलमुल्क नवाब सैयद नसीर हुसैन खाँ, 'ख्याल', प्रकाशक एस० ए०, उसमानी एंड संस, फियर्सलेन कलकत्ता, सन् १९३३ ई०, पृ० ५९।

२—वही, पृ० ८१।

तरह गत सौ सवा सौ वर्षों से बढ़ती आ रही है। विहार की 'हिंदुस्तानी कमेटी' और कुछ नहीं, उसी उर्दू को पनपाते रहने का एक उदार प्रयत्न है और 'हमारी जबान' की उक्त घोषणा एक बिहिश्ती सूखा फल।

आशा है, ऊपर के अवतरणों से अब अंजुमने तरक्कीए उर्दू (हिंद) का सारा संदेह दूर हो जायगा और उर्दू दुनिया अपने बापदादों की बात पर डटी रहकर उर्दू को नजीबों की जबान मानती रहेगी। रही हिंदी की बात। उसके संबंध में कुछ कहना ही व्यर्थ है। वह तो आज अपराधिनी के रूप में दरबार में हाजिर की जा रही है। उसकी सुधि किसे हो? वह तो उन लोगों की बोली क्या ठठोली है जो खुद को मिटा कर खुदा बनना चाहते हैं पर दमड़ी का रसा निकालने में नहीं चूकते। फिर भला वे हिंदी की चिंता क्यों करें?

उर्दवी हिंदी

उर्दू-हिंदी-द्वंद्व को देखकर संभवतः कुछ लोग समझते होंगे कि हम यहाँ हिंदी-उर्दू-विवाद पर बहस कर यह सिद्ध करने जा रहे हैं कि वास्तव में हिंदी उर्दू से पुष्ट, प्रबल, व्यापक, उदार और कहीं बढ़कर है। पर हम अपने पाठकों को विश्वास दिला सचेत कर देना चाहते हैं कि हमारी धारणा ऐसी नहीं है। हम नहीं चाहते कि हमारे पाठक आँख मूँदकर उर्दू-हिंदी के अखाड़े में कूद पड़ें और व्यर्थ की बकवाद से तू-तू और मैं-मैं की दुहाई दे राष्ट्र-भाषा का दंगल मार लें। हम इस प्रकार की भावना का कट्टर विरोध कर इस बात की प्रतिष्ठा चाहते हैं कि भाषा के प्रश्न पर शुद्ध भाषा की दृष्टि से विचार हो, और उसी स्थापना की ख्याति की जाय जो आगे चलकर सिद्धांत के रूप में पथ-प्रदर्शन का काम दे, न कि स्वतः हमारी भाषा के राज-मार्ग में काँटा का काम करे और पग-पग पर रोड़ा अटकाने में अपने को कृतार्थ समझे।

पाठकों ने फोर्ट विलियम कॉलेज (सन् १८०० ई० में स्थापित) के हिंदी[1] अध्यापक डॉक्टर गिलक्रिस्ट का परिचय

१—प्रमादवश कुछ लोग डॉक्टर गिलक्रिस्ट को उक्त संस्था का अध्यक्ष समझते हैं और यह सर्वथा भूल जाते हैं कि उस समय डॉक्टर

प्राप्त कर लिया है। अतः उनके संबंध में कुछ अधिक निवेदन करना व्यर्थ है। उन्होंने स्वतः हिंदी में रचना की और दूसरों को इसके लिये प्रोत्साहित भी किया। हिंदी, उर्दू अथवा 'हिंदुस्तानी' के विषय में उनकी धारणा क्या थी, किस नीति और किस ढंग से वे भाषा का निर्माण करा रहे थे, आदि प्रश्नों पर विचार करने का यह अवसर नहीं। यहाँ तो इतना ही जान लीजिए कि उन्होंने एक 'कवाअद जबाने उर्दू' की किताब लिखी जो सन् १८२० ई० में हिंदुस्तानी प्रेस, कलकत्ता से प्रकाशित हुई। उस पुस्तक के मुखपृष्ठ पर ही उसे 'क़वानीन सर्फ़ व नह्वो हिंदी' का खिताब दिया गया है और अँगरेजी में भी "Rules of Hindee Grammar" ही लिखा गया है। इस पुस्तक के भीतर भी आपको स्पष्ट दिखाई देगा कि वहाँ भी 'हिंदी' का ही विधान है। डॉक्टर गिलक्रिस्ट का कहना है—

"यह रिसालः जबाने-रेख़्त-ए-हिंदी की सर्फ़ व नह्वो में मुशतमल है दो मुकाले पर।"[1]

गिलक्रिस्ट 'हिंदी' के अध्यापक मात्र थे। उस 'हिंदी' के जिसके भीतर 'भाषा', 'खड़ी बोली', 'रेख़ता', 'उर्दू' और 'हिंदुस्तानी' आदि सभी रूपों की गणना होती थी। हाँ, डॉक्टर गिलक्रिस्ट फारसी के भी ज्ञाता थे और कालेज के विद्यार्थियों को कुछ फारसी भी पढ़ा देते थे। इनका निधन सन् १८४१ ई० में विलायत में हुआ।

१—कवाअद ज़बाने उर्दू, हिंदुस्तानी प्रेस कलकत्ता सन् १८२० ई०, पृ० १।

आगे चलकर डॉक्टर गिलक्रिस्ट ने 'जबाने-रेखत-ए-हिंदी' को सरल कर दिया है और साफ-साफ लिख दिया है—

"जानना चाहिए कि हिंदी रेखते में मसदर की अलामत हर्फ ना यानी नून और अलिफ साकिन है।"[१]

डॉक्टर गिलक्रिस्ट ने क्या समझ कर 'रेखते' के साथ 'हिंदी' की जोड़ लगा दी इसको स्पष्ट करने की चिंता अभी किसी को नहीं हुई। हम भी इसकी व्याख्या यहाँ नहीं कर सकते। हमें तो अभी अपने पाठकों के सामने उक्त कालेज के उन मुंशियों को पेश करना है जो दिन-रात 'हिंदी' की सेवा में लगे थे।

हिंदीवालों को अलग रखिए। जमाना उर्दूवालों का है। उन्हीं की गवाही से आज हिंदी का फैसला होगा। सुनिए 'दास्ताने अमीर हमज:' के लेखक कलील अलीखाँ उसकी भूमिका में कहते हैं—

"जबान हिंदी के इस क़िस्से को जबाने उर्दू-ए-मुअल्ला के से लिखा।"

सैयद हैदरबख्श 'हैदरी' भी मियाँ कलील का साथ देते हैं और किस लुत्फ से 'तोता कहानी' की भूमिका में लिख जाते हैं—

"जबान हिंदी में मुवाफिक़ मुहावर: उर्दू-ए-मुअल्ला के इबारत सलीस व ख़ूब व अल्फाज रंगीन व मरग़ूब में तरजुम: किया और नाम इसका तोता कहानी रखा।"[१]

१—कवाअद ज़बाने उर्दू, वही पृ० ९३

'हैदरी' की 'सलीस', 'रंगीन' और 'मरग़ूब' इबारत में हैरान न हों बल्कि मुद्द मीर अम्मन की 'ठेठ' का भी रंग देखें। उनका कथन है—

"जान गिलक्रिस्ट साहब ने, हमेशः इक़बाल उनका ज़्यादः रहे जब तलक गंगा-जमुना बहे, लुत्फ़ से फ़रमाया कि इस क़िस्से को ठेठ हिंदुस्तानी गुफ़्तगू में जो उर्दू के लोग हिंदू-मुसलमान, औरत-मर्द, लड़के-बाले, ख़ास व आम आपस में बोलते-चालते हैं तरजुमः करो। मुवाफ़िक़ हुक्म हुज़ूर के मैंने भी उसी मुहावरे से लिखना शुरू किया जैसे कोई बातें करता है।"[1]

पाठकों ने देखा होगा कि उक्त सभी अवतरणों में एक ओर तो 'हिंदी' अथवा 'हिंदुस्तानी' है और दूसरी ओर 'उर्दू-ए-मुअल्ला' अथवा 'उर्दू'। 'हिंदी' और 'उर्दू-ए-मुअल्ला' अथवा 'हिंदुस्तानी' और 'उर्दू' में जो संबंध है उसी का उल्लेख उक्त अवतरणों में किया गया है। उनमें 'उर्दू' और 'उर्दू-ए-मुअल्ला' में उसी प्रकार कोई भेद नहीं है जिस प्रकार 'हिंदी' और 'हिंदुस्तानी' में।

'उर्दू' अथवा 'उर्दू-ए-मुअल्ला' का संकेत इतना सच्चा और साफ है कि उसके विषय में कोई मत-भेद हो ही नहीं सकता। फिर भी कुछ लोग न जाने क्यों उर्दू का एक नया संकेत निकालते हैं और उसका अर्थ 'लश्कर' अथवा 'बाजार' समझ लेते

१—बाग़ोबहार की भूमिका, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, पृ० ३।

हैं। उनको लुगत की चिंता मे इस वात की खबर ही नहीं होती कि 'उर्दू' एक स्थल-विशेष का नाम है। उसका निर्देश व्यक्तिवाचक सज्ञा के रूप में रहा है न कि जातिवाचक संज्ञा के सामान्य रूप म।

उर्दू का लश्करी अर्थ हम पर इतना हावी हो गया है कि हम उर्दू के प्रसग मे कुछ अन्यथा सोच ही नहीं सकते और किसी न किसी तरह उर्दू जवान को लश्करी सिद्ध करना ही चाहते हैं। जहाँ तक हम समझते हैं, पहले पहल यह सनक मीर अम्मन 'देहलवी' पर सवार हुई और उन्होंने 'बागोबहार' की भूमिका में यह लश्करी उडान ली। उन्होंने 'उर्दू की जवान' के विषय मे जो लबी खोज की उसमें असलियत कितनी है, इसका पता अब बहुतों को चल गया है। इतिहास उनके कथन के विरोध में गवाही देता है और साफ-साफ कह सुनाता है कि हजरत भी कुछ 'लश्कर' के चक्कर में आ गए है। तभी तो किस तपाक से कहते हैं—

"उनके (अमीर तैमूर के) आने और रहने से लश्कर का बाजार शहर में दाखिल हुआ। इस वास्ते शहर का बाजार उर्दू कहलाया।"[१]

परतु क्या मीर अम्मन का यह कहना सच है? क्या वह सचमुच इसे उर्दू की हकीकत सावित कर दिखाते हैं! हरगिज न हों। उन्हीं के मुँह से कुछ और सुन लें—

१—बागोबहार, भूमिका।

"जब अकबर बादशाह तख़्त पर बैठे तब चारों तरफ़ के मुल्कों से सब क़ौम क़द्रदानी और फ़ैज़रसानी इस ख़ान्दान लासानी की सुनकर हुजूर में आकर जमा हुई। लेकिन हर एक की गोयाई और बोली जुदा-जुदा थी। इकट्ठे होने से आपस में लेन-देन सौदा-सुल्फ़, सवाल-जवाब करते-करते एक ज़बान उर्दू की मुकर्रर हुई।"[1]

जनाब मीर अम्मन साहब ने 'लश्कर का बाजार' दाखिल किया था देहली में और वहीं के बाजार को उर्दू बनाया था। किंतु अब अकबर के समय में उसे ला बिठा दिया अकबराबाद यानी आगरा में। सौभाग्य से अकबर तथा उनके दरबारियों की कविता मौजूद है जो उस समय की प्रचलित काव्य अथवा राष्ट्र-भाषा ब्रजी में है। दुनिया जानती है कि अकबर अकबराबाद (आगरा) में रहता था और वहीं दरबार करता था। देहली से उसका कोई विशेष संबंध न था। वह एक नगरी भर रह गई थी। फिर दिल्ली की उर्दू से उसका कौन सा नाता जोड़ा जाता है?

अब मीर अम्मन की अंतिम उड़ान पर ध्यान दीजिए। यह खोज नहीं, सचाई की बात है। शाहजहाँ देहली को फिर से आबाद करना चाहता है। उसने अपनी शाही शान के अनुसार उसे बसा भी दिया है। चुनांचे मीर अम्मन कहते हैं—

"जब हज़रत शाहजहाँ साहबेक़िरान ने किला मुबारक और जामामसजिद और शहरपनाह तामीर फरमाया, तब बादशाह

[1]—बागोबहार, भूमिका।

ने ख़ुश होकर जश्न फरमाया और शहर को अपना दारुल्-ख़िलाफ़त बनाया। तब से शाहजहानाबाद मशहूर हुआ। अगरचे दिल्ली जुदा है। वह पुराना शहर और यह नया शहर कहलाता है। और वहाँ के शहर को उर्दू-ए-मुअल्ला ख़िताब दिया।"[१]

मीर अम्मन ने 'उर्दू-ए-मुअल्ला' का ठीक-ठीक पता दे दिया। अब 'उर्दू की जबान' का भी हाल सुन लीजिए। वही मीर अम्मन उसी सिलसिले में उसी जगह कहते हैं

"—अमीर[२] तैमूर के अहद से मुहम्मदशाह की बादशाहत तक बल्कि अहमदशाह और आलमगीर सानी के वक्त तक

१—बागोबहार, भूमिका।

२—अमीर तैमूर का आक्रमण सन् १३९८ ई० में हुआ था। वह बादल की तरह आया और बिजली की तरह कड़क कर निकल गया। इसके बाद उसके वंशज बाबर ने हिंद पर चढ़ाई की और सन् १५२६ ई० में देहली का बादशाह हुआ। स्पष्ट है कि सन् १३९८ से १५२६ तक हिंद की बादशाहत से अमीर तैमूर के वंश का कोई संबंध न था। फिर भी मीर अम्मन अमीर तैमूर से लेकर आलमगीर सानी तक का उल्लेख करते हैं जो सर्वथा अशुद्ध है। बात यह है कि मंगोलों ने मुसलमानों को इतना सताया था कि जब अमीर तैमूर मुसलमान के रूप में उनके सामने आया तब वे इतना प्रसन्न हुए कि आक्रमणकारी होने पर भी उसे मुगल वंश का पेशवा मान लिया। फलतः आज भी मुगल वंश का उल्लेख अमीर तैमूर के ही नाम से करते हैं, चंगेजखाँ या बाबर के नाम से नहीं।

पीढी व पीढी सल्तनत एकसाँ चली आई। निदान ज़बान उर्दू की मँजते-मँजते ऐसी मँजी कि किसी शहर की बोली इससे टक्कर नहीं खाती लेकिन कद्रदाँ मुसिफ चाहिए।"[१]

मीर अम्मन यदि 'अमीर तेमूर' की जगह 'बादशाह शाहजहाँ' का प्रयोग करते और अपनी भूमिका में बे-सर पैर की उड़ान न लेते तो 'उर्दू की हक़ीक़त' के बारे में उनका यह कथन प्रमाण होता। फिर भी हम उनके पूरे कृतज्ञ हैं कि उन्होंने कृपा कर इस प्रकार 'उर्दू' और 'उर्दूए-मुअल्ला' का उल्लेख किया और हमें तत्कालीन लेखकों के 'उर्दू-ए-मुअल्ला' के सकेत को समझने का भरपूर अवसर दिया। अस्तु, हमारा स्पष्ट निवेदन है कि 'उर्दू' एव 'उर्दू-ए-मुअल्ला' का निर्देश एक निश्चित देश अथवा स्थान का द्योतक है और उसी स्थान की भाषा का नाम 'उर्दू की ज़बान', 'उर्दू-ए-मुअल्ला' या उर्दू है। तुर्की शब्द उर्दू यानी लश्कर या बाजार से उसका कोई सबध नहीं। यदि है तो यह कि शाहजहाना-बाद में 'लाल किला' उर्दू यानी दरबार था। शाही लश्कर का वहीं पड़ाव था। उसी शाहजहानाबाद में एक शाही बाजार भी था जिसे 'उर्दू-बाज़ार'[२] कहते थे। सामंतों के भोग विलास

१—बागोबहार, भूमिका।

२—इसके संबध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ का तो यहाँ तक कहना है कि उस समय दिल्ली में 'उर्दू बाजार' नाम का कोई बाजार न था। इसके लिये देखिए इसी पुस्तक का पृ० ५।

की सभी सामग्रियाँ वहाँ उपलब्ध थीं। उसी शाहजहानाबाद में शाही मसजिद भी थी जो 'जामा मसजिद' के नाम से प्रसिद्ध है। सारांश यह कि 'उर्दू' अथवा 'उर्दू-ए-मुअल्ला' का अर्थ है शाहजहानाबाद का 'लाल किला', 'जामा मसजिद' और 'उर्दू बाजार'। उर्दू बाजार सन् ५७ की क्रांति में मिट गया, पर शेष दो अभी वर्तमान हैं और 'उर्दू-ए-मुअल्ला' का पता बताते हैं।

उर्दू-ए-मुअल्ला अथवा उर्दू के इस संकेत को सामने रखकर अब मीर अम्मन की 'उर्दू की जबान', कलील अली खाँ की 'जबान-ए-उर्दू-ए-मुअल्ला' और सैयद हैदर-बख्श की 'मुवाफिक मुहावरः उर्दू-ए-मुअल्ला' के अर्थ पर ध्यान दीजिए और प्रत्यक्ष देख लीजिए कि उनका पक्ष क्या है। किस तरह वे उर्दू को देशपरक बताते हैं। विचार करने से व्यक्त होता है कि मीर अम्मन 'उर्दू-हिंदुस्तानी' के ठेठ स्वरूप को दिखाना चाहते हैं तो कलीलखाँ और हैदरी उसके सलीस और फसीह रूप को। ध्यान सभी का उर्दू-ए-मुअल्ला यानी उर्दू पर है, परंतु ध्येय में एकता नहीं है। मीर अम्मन के सामने सभी लोग हैं पर शेष दोनों महानुभावों के सामने उर्दू के केवल 'खुशबयान' या 'धनी' लोग ही। सबकी 'सीधी बोली' यानी 'आमफ़हम जबान' से उन लोगों का कोई संबंध नहीं।

विचारणीय बात यह है कि उक्त अवतरणों में 'हिंदी' अथवा 'हिंदुस्तानी' का 'उर्दू-ए-मुअल्ला' अथवा 'उर्दू' से क्या संबंध है। क्यों यहाँ उर्दू या 'उर्दू-ए-मुअल्ला' का उल्लेख न

कर 'हिंदुस्तानी' तथा 'हिंदी' का प्रयोग भी साथ ही साथ कर दिया गया है। कारण प्रत्यक्ष है। उस समय हिंदी-उर्दू का विवाद मैदान में नहीं आया था। 'उर्दू की जबान' भी उसी तरह हिंदी के भीतर गिनी जाती थी जिस तरह ब्रज की भाषा और अवध की बोली। निदान उक्त महानुभावों को स्पष्ट कहना पड़ा कि हिंदी से उनका तात्पर्य है 'उर्दू-ए-मुअल्ला' अथवा 'उर्दू' की जबान।

उर्दू को हिंदी की एक विभाषा कहने की परंपरा कितनी पुरानी है, इसका कुछ पता लग गया। अब, फोर्ट विलियम कॉलेज के बाहर भी उर्दू इसी दृष्टि से देखी जाती थी, इसकी भी एक झाँकी देख लीजिए। इस समय हमारे सामने सादी शीराजी की गुलिस्ताँ का एक उर्दू अनुवाद है। उसके प्रकाशन के सन्-सवत् का पता नहीं किंतु उसके मुख-पृष्ठ पर मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा यह है—

"मुतरजम बतरजमः जबान उर्दवी हिंदी।"

अब इस उर्दवी हिंदी का अर्थ उसी प्रकार उर्दू की हिंदी समझ लें जिस प्रकार 'देहलवी' अथवा 'लखनवी' का 'देहली' अथवा 'लखनऊ' की हिंदी समझते हैं।

धृष्टता होगी पर करें क्या? पते की बात पर पानी तो डाला नहीं जाता। उसे तो कहना ही पड़ता है। देखिए न, श्री हरसहायलाल वर्मा क्या गवाही देते और किस तरह पते की बात कह जाते हैं -

"कदाचित् हिंदी कवियों को यह भय मालूम होता है कि छद मे भी खरी बोली प्रयुक्त होने से पद्य उर्दवी हो जायगा। एक तो गद्य उर्दवी होने पर पद्य को उर्दू चाल से बचाना कपट अवधानता है। दूसरा यह कि यह व्रीडा उर्दू वाले को होना चाहिए; हम लोग को नहीं। क्योंकि यह उर्दू है जो हिंदी पर आक्रमणिनी कही जा सकती है, हिंदी जो कुछ प्रयोग में लावेगी वह उसका अपना है, किसी का अपहृत नहीं।"[१]

वर्माजी का अंतिम वाक्य बड़े मार्के का है। हिंदी को पूरा-पूरा अधिकार है कि वह चाहे जिस 'विभाषा' को भाषा के पद पर विठाए और चाहे जिस भाषा को विभाषा के रूप में लाए। इसमें किसी का कोई साझा नहीं। यदि हिंदी ने उर्दवी भाषा को अपना लिया तो अच्छा ही किया। वह भी तो उसी की एक विभाषा थी। आखिर उर्दू-हिंदी का विवाद क्यों? कौन कह सकता है कि 'उर्दू' हिंदी की विभाषा नहीं? क्या उर्दू के पुराने पोषक स्वयं इसे स्वीकार नहीं करते? यदि हाँ, तो उर्दू के विभाषा होने में आपत्ति क्या? यदि नहीं, तो उक्त अवतरणों का अर्थ क्या? कुछ इस पर भी ध्यान देना चाहिए और उर्दू के रंग को सदा के लिये अच्छी तरह पहचान लेना चाहिए।

१—हिंदी शकुंतला नाटक, नवलकिशोर प्रेस लखनऊ १८६४ ई०, भूमिका।

सैयद इंशा की 'हिंदवी छुट'

सैयद इंशा (मृ० सं० १८७५ वि०) की 'रानी केतकी की कहानी' अथवा 'उदयभान-चरित' की चर्चा तो बराबर चलती रहती है, पर कभी उनकी 'हिंदवी छुट' की छान-बीन नहीं होती। परिणाम यह होता है कि हम 'हिंदवी' के वास्तविक अर्थ से अपरिचित रह जाते हैं और अपने विलायती प्रभुओं की देखा-देखी उसे केवल हिंदुओं की शुद्ध भाषा समझ बैठते हैं। गले में गुलामी का तौक और मस्तिष्क पर दासता की छाप होने के कारण हमें इतना भी साहस नहीं होता कि हम अपने पूर्वजों के ग्रंथों का अध्ययन शुद्ध अपनी दृष्टि से करें और उनके विचारों का प्रकाशन दिलेरी पर सचाई के साथ करें। कभी इस व्यामोह में न पड़े कि हमारे विदेशी प्रभु हमारे विचारों से सहमत न होंगे और हमें कट्टर या हठधर्मी समझ लेंगे। नहीं, कदापि नहीं। उनमें जो सत्यनिष्ठ हैं वे हमारी सचाई की दाद देंगे और हमारे प्रकाश से अपने धुँधले ज्ञान को और भी प्रकाशित बना लेंगे। यदि अपने देश और साहित्य की परंपरा में भी हमारी पूछ न हुई और हम उन्हीं के कल्पित निर्देश पर चलते रहे तो संसार में जीवित रह कर साँस लेने का हमें क्या अधिकार? क्या हम मानव नहीं? केवल मनुष्य के हाथ की कठपुतली हैं? यदि

नहीं तो आइए सैयद इंशा की 'हिंदवी छुट' पर डटकर विचार करें और उन दिवांधों को भी सुझा दें कि 'हिंदवी'[१] हिंदुओं की ही नहीं, बल्कि समूचे हिंद की भाषा है। 'उर्दू'[२] के शिष्ट समुदाय अथवा, नजीब' मुसलमानों की जबान भी 'हिंदवी' है। इसी हिंदवी की शैली-विशेष का नाम 'हिंदवी छुट' अथवा 'खड़ी हिंदवी' है, जिसको हम खड़ी हिंदी भी कह सकते हैं।

अच्छा, तो सैयद इंशा का कथन है—

"एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिंदवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो।"[३]

१—हिंदवी, हिंदी या हिंदुस्तानी का ठेठ या वास्तविक अर्थ एक ही है। प्रमाद अथवा साहबों की नादानी के कारण उनके संकेत में भेद उत्पन्न कर दिया गया और हिंदवी को केवल हिंदुओं की भाषा कहा गया।

२—उर्दू से तात्पर्य 'उर्दू-ए-मुअल्ला' के देश से है, जो आज भी उर्दू जबान का पर समझा जाता है। शाहजहानाबाद अथवा दिल्ली के भाग-विशेष का नाम उर्दू-ए-मुअल्ला था, जिसमें लाल किला, उर्दू बाजार और जामा मसजिद की गणना होती थी।

३—डौल डाल एक अनोखी बात का।

सैयद इंशा का यह व्रत कितना कठिन था, इसका पता अभी चल जाता है। उनके 'मिलनेवालों में से एक कोई बड़े पढे लिखे, .लगे कहने'--

"यह बात होते दिखाई नहीं देती। हिंदवीपन भी न निकले और भाषापन भी न हो। बस जैसे भले लोग अच्छों से अच्छे आपस में बोलते चालते हैं ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छाँह किसी की न हो, यह नहीं होने का।"

क्यों नहीं होने का, इसके कारण प्रत्यक्ष दिखाए गए हैं--

(१) हिंदवीपन की कडी पाबदी।

(२) भाषापन का बहिष्कार।

(३) भले लोग अच्छे से अच्छों के व्यवहार मे होना। और

(४) किसी भी अन्य भाषा की छाँह का न होना।

हिंदवीपन के विषय म तो हम अभी कुछ भी कह नहीं सकते, पर 'भाषापन' 'अच्छों से अच्छे' और छाँह' के सबंध में कुछ विचार अवश्य करेंगे।

सैयद इशा के मित्र ने अपनी ओर से कुछ न कह केवल उनके कथन की व्याख्या भर की है। सैयद इशा का कहना था कि उनकी कहानी में (१) हिदवी छुट और (२) किसी बोली का पुट न होगा तथा उसमे (३) बाहर की बोली या (४) गँवारी का मेल न होगा। उनके मित्र ने समझा कि 'हिदवी छुट' तो 'हिदवीपन' है और 'और किसी बोली का पुट' 'भाषापन'। रही 'बाहर की बोली' और 'गँवारी' सो उनके

मित्र ने उनका भी हिसाब लगा लिया। गँवारी का मामला तो यों दुरुस्त हो गया कि वह गँवारों की बोली न होकर 'अच्छों से अच्छे भले लोगों' की बोल चाल हो और 'बाहर की बोली' का हिसाब इस तरह लगा कि 'छाँह किसी की न हो।'

'बाहर की बोली' को लेकर विवाद करना व्यर्थ है। प्रत्यक्ष ही उसका अर्थ है हिंद के बाहर की बोली, यानी अरबी, फारसी तुर्की आदि। सैयद इंशा इन्हें 'बाहर की बोली' क्यों कहते हैं, इसका कारण गुह्य नहीं, बिल्कुल खुला है। इन्हें कभी हिंद में बोल-चाल का रूप नहीं मिला। ये कभी हिंदी यानी हिंद की न बन सकीं। जिन विदेशियों के साथ देश में आईं उनके साथ देश की न हो सकीं। उनके शासन के साथ ही इनका भी विनाश हो गया। निदान सैयद इंशा तथा उनके मित्र को उन्हें 'बाहरी बोली'[१] कहना पड़ा।

सच पूछिए तो सैयद इंशा के व्रत के दो पक्ष हैं। प्रथम में 'हिंदवीपन' और 'भाषापन' हैं तो द्वितीय में 'अच्छों से अच्छे' लोग तथा 'बाहरी बोली'। इनमें 'बाहरी बोली' के

१—खेद है कि आज नीति और प्रमाद के कारण सैयद इंशा तथा उनके मित्र का यह भाव छिपाया जा रहा है और फारसी तथा अरबी यहाँ की भाषा का भाडार बनाई जा रही हैं। संस्कृत के साथ फारसी-अरबी आदि बाहरी भाषाओं का उल्लेख करना अनुचित और हेय है।

बारे में हमने अच्छी तरह देख लिया कि उसका संकेत अरबी-फारसी आदि विदेशी बोलियों से है। अतएव अब थोड़ा 'भले लोग अच्छों से अच्छे' पर विचार करना चाहिए।

इसमें तो तनिक भी संदेह नहीं कि सैयद इंशा के 'भले लोग' वे ही हो सकते हैं जिनकी भाषा प्रमाण समझी जाती हो और समय पड़ने पर सनद के रूप में पेश की जाती हो। इसी सनदी जबान के लिहाज से सैयद इंशा को 'भले लोग' के साथ ही साथ 'अच्छों से अच्छे' का भी विधान करना पड़ा है। इसलिये अब यह आवश्यक हो गया है कि कुछ इसकी भी मीमांसा की जाय कि आखिर सैयद इंशा के 'भले लोग अच्छों से अच्छे' हैं कौन से जीव! उनका निवास कहाँ है? उनकी जबान क्यों 'मुस्तनद' या प्रमाण है?

सौभाग्य से सैयद इंशा ने 'दरिया-ए-लताफत' में (सं० १८६४ वि०) इसका पूरा विवरण दिया है कि कहाँ की जबान मुस्तनद है और किन लोगों की जबान को सनद के रूप में पेश कर सकते हैं। 'मसहफी' से उनका जो मजलिसी[1] दंगल

१—प्रोफेसर आजाद ने 'आबे हयात' में इसकी खूब चर्चा की है। इसके लिये मसहफी और सैयद इंशा का उक्त प्रसंग यहीं देखना चाहिए। स्पष्ट हो जायगा कि उर्दू की जबान क्या सचमुच आईन है, जो उससे तनिक भी इधर-उधर हो जाना भारी अपराध है।

हुआ था उसमें 'उर्दू की जबान' प्रमाण-स्वरूप मानी गई थी और उसी के आधार पर उस समय लखनऊ भी चल रहा था। निदान मानना पड़ता है कि सैयद इंशा के 'भले लोग' 'उर्दू' यानी उर्दू-ए-मुअल्ला के निवासी हैं; कुछ इधर-उधर के निपट गवाँर नहीं।

भाषा के क्षेत्र में सैयद साहब बाहरी लोगों को किस दृष्टि से देखते थे, तनिक इस पर भी ध्यान दीजिए और प्रत्यक्ष देख लीजिए कि उनके 'भले लोग' किस अखाड़े के जीव हैं। उनका कहना है—

"हम चुनीं सकनः महल्लात दीगर कि बाजे अज सुहबत वालिदैन जबान याद दाश्तः व बाजे जबान फरीदाबाद व बाजे जबान रुहतक व बाजे जबान सोनीपत व बाजे जबान मीरठ याद गिरिफ्तः वा रोजमर्रये उर्दू जम नमूदः अंद। व खुदा कि गुफ्तगूय शां रावीह बजानवरे अस्त कि चेहरा अश चेहरा अस्त व बाकी तमामश ब सूरत खर बाशद या निस्फश आहू व निस्फश सग।"[1]

देखा आपने, सैयद साहब कहते हैं कि अन्य स्थानों के लोगों में जो उर्दू की जबान बोलते हैं, कुछ तो ऐसे हैं जिन्हों ने अपने माता-पिता से जबान सीख ली है और कुछ ऐसे हैं जिन्होंने फरीदाबाद, रुहतक, सोनीपत, मेरठ आदि की जबान सीखकर

१—दरिया-ए-लताफ्त, वही, पृ० २०।

उनके बालों को उर्दू की बोलचाल में मिला दिया है। अब सैयद साहब की दृष्टि में उनकी बातचीत ठीक उस जानवर की तरह है जिसके मुँह तो हो किंतु सारा शरीर गदहे का हो अथवा यह कि आधा भाग हिरन का हो और आधा कुत्ते का।

कहना न होगा कि सैयद साहब के 'गदहे' और 'कुत्ते' के वेश के लोग 'अच्छों से अच्छे' नहीं हो सकते। यह उपाधि तो उन्हीं को नसीब हो सकती है जो खास दिल्ली के निवासी हों।

दिल्ली में बस जाने से ही किसी की जबान मुस्तनद नहीं हो सकती। कारण, सैयद साहब स्वयं चेतावनी देते हैं—

"देहली में भी हर किसी के हिस्से में फसाहत नहीं है। चंद चुने हुए आदमियों को ही नसीब हुई है।"[1]

मतलब यह कि सैयद इशा जिस 'हिंदवी छुट' में कहानी लिखने का संकल्प करते हैं उसके बोलनेवाले चंद दिल्ली के चुने हुए आदमी हैं। इन आदमियों में हिंदुओं की गणना हो

१—"फ़साहत दर देहली हम नसीब हर कस नेस्त, मुनहसिर अस्त दर अशख़ास मादूद।"

दरियाएलताफ़त, वही, पृ० २२।

नहीं सकती। कारण, स्वयं सैयद साहब उन्हें इसके योग्य नहीं समझते। चुनांचे कहते हैं—

"बुद्धिमानों से यह बात छिपी नहीं है कि हिंदुओं ने बोल-चाल, चाल-ढाल, खाना और पहनना इन सब बातों का सलीका मुसलमानों से सीखा है।"[1]

अच्छा, यही सही। शिष्य-रूप में तो उनका उल्लेख हो गया। पर नहीं, यह भी शुद्ध भ्रम निकला। क्योंकि सैयद साहब का साफ साफ फतवा है—

"किसी भी बात में इनका क़ौल-फ़ेल ऐतबार के क़ाबिल नहीं है।"[2]

किनका? उन्हीं हिंदुओं का जिनकी भाषा 'हिंदवी' कही जाती है और जिसे सैयद इशा अपनी कहानी में अपनाने जा रहे हैं। नहीं, कदापि नहीं। कौन कह सकता है कि सैयद इंशा की 'हिदवी छुट' हिंदुओं की भाषा है? तनिक सामने तो आए और अपने दिमाग के खलल की जाँच तो कराए।

१—"बर साहबे तमीज़ान पोशीदा नेस्त कि हिंदुआन सलीक़ा दर रफ़्तार व गुफ़्तार व ख़ोराक व पोशाक अज़ मुसलमानान याद गिरफ़्ता अद।" दरियाए लताफत, वही, पृ० ९।

२—"दर हेच मक़ाम क़ौल व फेल ईंहा मनात एतबार नमी तवानद शुद।" दरिया-ए-लताफ़त, वही, पृ० ९।

हाँ, हमारा कहना है कि सैयद इंशा की 'हिंदवी छुट' हिंदुओं की नहीं, बल्कि उन 'नजीबों' और 'फसीहों' की बोल-चाल की भाषा है जिन्हें सैयद इंशा ने स्वयं प्रमाण माना है और जिनका उल्लेख अपनी 'दरिया-ए-लताफत' में किस लुत्फ़ के साथ कर दिया है कि

"लेकिन असल शर्त यह है कि वह नजीब हो यानी उसके माता पिता देहली के हों"।[१]

सचमुच 'हिंदवी छुट' उर्दू के फसीहों और नजीबों की बात-चीत की भाषा है, कुछ हिंदुओं की अपनी भाषा नहीं। यदि वह हिंदुओं की भाषा होती तो उसमें 'भाषापन' अवश्य होता। परंतु सैयद साहब का दावा है कि उसमें 'भाषापन' भी न रहे। उर्दू की जबान में कितना 'भाषापन' था, इसे समझने के लिये मीर अम्मन 'देहलवी' की किताब 'बागोबहार'[२]

१—"लेकिन असलश शर्त अस्त कि नजीब बाशद। याने पिदर व मादरश अज़ देहली बाशद दाखिल फ़ुसहाय गश्त।"

पृ० ६६

२—बागोबहार की रचना फोर्ट विलियम कालेज के 'हिंदी मुदर्रिस' डॉक्टर गिलक्रिस्ट के कहने से कंपनी सरकार के साहबों के [illegible] लिये की गई थी। अनेक बातों का पता, जो 'रानी केतकी [illegible] ...र सी लगती है, वहीं से चल जाता है।

(सं० १८५८ वि०) का अध्ययन करना चाहिए। मीर अम्मन ने उसे 'ठेठ उर्दू की जबान' में लिखा है और सैयद इंशा ने इसे शिष्ट 'हिंदवी छुट' में। यही इन दोनों पुस्तकों में प्रधान भेद है। सैयद इंशा मीर अम्मन की तरह—"हिंदू-मुसलमान, औरत-मर्द, लड़के-वाले, खास वो आम" सबको नहीं लेते, प्रत्युत "भले लोग अच्छों से अच्छे" को ही चुनते हैं। फलतः उनकी भाषा भी अधिक व्यवस्थित और परिमार्जित है। सलीस और फसीह है। पर वास्तव में हैं दोनों ही ऐसी जिन्हें उर्दू के लोग "आपस में बोलते-चालते हैं।"

'बाहर की बोली' और 'भले लोग अच्छों से अच्छे' की मीमांसा हो चुकी। अब थोड़ा 'हिंदवीपन' और 'भाषापन' का भी विचार होना चाहिए। सैयद साहब की दृष्टि में उनका भेद क्या था, यह हम ठीक-ठीक नहीं कह सकते, पर इतना अनुमान अवश्य कर सकते हैं कि उनका तथा उनके मित्र का मत उनके विषय में प्रायः एक ही था। सैयद साहब ने जिस 'गँवारी' का संकेत किया है उसमें 'भाषा' का भी निर्देश है। भाषापन का सीधा-सादा संकेत है संस्कृत शब्दों से भरी हुई हिंदुओं की सामान्य भाषा—उस भाषा से जिसमें एक ओर तो संस्कृत के तत्सम शब्द आते थे और दूसरी ओर ग्रामीण शब्दों का भी व्यवहार होता था। संक्षेप में जो सैयद इंशा के 'भले लोग अच्छों से अच्छे' की भाषा न होकर केवल लोकभाषा थी—जन-सामान्य में जिसका बोलबाला था।

सैयद इंशा के मित्र ने देखा कि 'हिंदवी' के साहित्यगत दो रूप हैं। एक का प्रयोग तो 'भले लोग अच्छों से अच्छे' यानी उर्दू के नजीब और फसीह करते हैं तथा दूसरे का सामान्य लोग। साहित्य में जाकर पहला दल अरबी फारसी का हिमायती हो जाता है और दूसरा भाषा अथवा संस्कृत का। सैयद इंशा अरबी-फारसी का पल्ला छोड रहे हैं। निदान उनको 'भाषा' अथवा संस्कृत का स्वागत करना पडेगा। पर ऐसा करने से उनकी 'हिंदवी' में गँवारी का भी मेल हो जायगा और वह 'हिंदवी छुट' भी न रह जायगी। इसलिये सैयद इंशा को 'भाषापन' से भी अलग रहना पडेगा। सैयद साहब अजब आदमी हैं। न तो इस ढंग पर चलना चाहते हैं और न उस ढंग पर। बल्कि अपनी कहानी के लिये एक बिलकुल नया ढंग निकालना चाहते हैं। 'ठेठ हिंदवी' में साहित्य निर्माण करना चाहते हैं!

सैयद साहब ताड गए। उन्होंने देख लिया कि हजरत इस बात के कायल हैं कि काव्य के लिये अरबी-फारसी अथवा भाषा का पल्ला पकडना अनिवार्य है। उनकी सहायता के बिना कोरी हिंदवी में काव्य-रचना हो नहीं सकती। आखिर मौजी जीव ठहरे। ताव में आ गए और किस तपाक से बोल पडे—

"जो मेरे दाता ने चाहा तो वह ताव-भाव और राव-चाव और कूद-फाँद लपट-झपट दिखाऊँ जो देखते ही आपके ध्यान

का घोड़ा जो बिजली से भी बहुत चंचल अचपलाहट में है हिरन के रूप में अपनी चौकड़ी भूल जाय।" (डौल डाल एक अनोखी बात का।)

सैयद साहब का व्रत पूरा हुआ। 'रानी केतकी की कहानी' अचरज के रूप में सामने आई। उसमें 'हिंदवी छुट' और 'किसी बोली का पुट' नहीं है। पर क्या वस्तुतः उसमें काव्य है ? क्या 'ताव-भाव', 'राव-चाव', 'कूद-फाँद' और 'लपट-झपट' को ही काव्य[1] कहते हैं ? जो हो, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि सैयद इंशा ने अपने व्रत को पूरा किया और अपनी 'हिंदवी छुट' की एक कहानी छोड़ गए।

सैयद इंशा के मित्र का आशय था कि 'हिंदवीपन' का 'भाषापन' से सहज संबंध है। उसके बिना उसका उत्कर्ष

१—अभी अभी एक उर्दू के नामी अँगरेजी के प्रोफेसर ने उर्दू के इसी 'ताव-भाव', 'राव-चाव', 'कूद-फाँद' और 'लपट-झपट' को लेकर हिंदीवालों को ललकारा है और यह प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिया है कि रुचि और दिमागी गुलामी भी कोई चीज होती है। बेचारे को इतना भी पता या खयाल नहीं कि उर्दू की जबान की सफाई किसमें और कितनी मानी जाती है। एक सपाटे में बहुतों का नाम ले लिया है। पर उनकी जबान से एक पते की बात टपक पड़ी है। वह यह कि उर्दू के अच्छे या चोटी के शेर वे ही बन पड़े हैं जो ठेठ हिंदी या हिंदवी छुट में हैं। फिर फारसी-अरबी की गुलामी क्यों ? कुछ इसका भी रहस्य है ? हाँ, 'ता कहँ पच्छिम उगेउ दिनेसा।'

हो नहीं सकता। इसी तरह भले लोग 'अच्छों से अच्छे' का बाहरी बोली से बड़ा लगाव है। उसके बिना उनका काम चल नहीं सकता। इसलिये उन्होंने सैयद साहब से कहा कि 'यह नहीं होने का'।

मित्र महोदय की यह पकड़ कितनी पक्की है। सचमुच 'हिंदवी' का 'भाषा' और 'अच्छों से अच्छे' का 'बाहर की बोली' से गहरा संबंध है। 'हिंदुस्तानी' के प्रेमियों को चाहिए कि इसे अच्छी तरह नोट कर लें और साफ साफ समझ लें कि सच्ची हिंदुस्तानी का संबंध भाषा यानी गँवारी तथा संस्कृत से ही है न कि अरबी फारसी आदि बाहर की बोली से। 'बाहर की बोली' से वास्ता तो उन लोगों का है जो 'अच्छों से अच्छे' यानी उर्दू के फसीह और नजीब हैं। देश की कौन कहे, 'उर्दू-ए मुअल्ला' के भी किसी कोने में बसते हैं। समूचे देश से उनका कोई संबंध नहीं। और यदि है भी तो शाही लगाव न कि 'भाई-बंधु' का संबंध या भाई-चारे का कोई रिश्ता।

कहा जा सकता है कि अब वह जमाना लद गया जब 'उर्दू' के कुछ नजीब और फसीह लोग ही 'अच्छे' और 'भले' समझे जाते थे। अब तो मनुष्य-मात्र को यह अधिकार मिल रहा है और उर्दू के आचार्य भी उस समय को 'अहदे जाहिलियत' या 'तारीक जमान'[१] कहते हैं। ठीक है। पर कृपया यह तो

१—देखिए भाषा का प्रश्न, ना० प्र० सभा, काशी, संवत् १९९६ पृ० १३६ १४० तक।

बताइए कि आज 'बाहर की बोली' का इतना सत्कार क्यों हो रहा है। क्योंकर आज वह घर की बोली बन गई है? क्या इसका भी कुछ रहस्य है?

जो हो, यहाँ हम उसके उद्घाटन में लीन नहीं हो सकते, पर इतना दिखा देना अनुचित भी नहीं समझते कि सैयद इंशा किस तरह अल्लाह और रसूल को याद कर अपनी 'हिंदवी छुट' को पाक बनाते और विद्वानों को पेच में डाल देते हैं। 'हम्द' व 'नात' के रूप में उनका कथन है—

"सिर झुका कर नाक रगड़ता हूँ उस अपने बनानेवाले के सामने जिसने हम सबको बनाया और बात की बात में वह कर दिखाया कि जिसका भेद किसी ने न पाया।"

यह तो हुई अल्लाह की वंदना। अब जरा रसूल की स्तुति भी सुन लीजिए—

"इस सिर झुकाने के साथ ही दिनरात जपता हूँ उस अपने दाता के भेजे हुए प्यारे को, जिसके लिये यों कहा है 'जो तू न होता तो मैं कुछ न बनाता'।"

तात्पर्य यह कि इस 'हिंदवी छुट' में भी सैयद इशा ने अपने दीन की दुहाई दी है और अपने मजहब का पालन किया है। याद रहे इसका डौल भी अभी मजहबी है। इसमें 'बाहर की छाँह'[1] साफ दिखाई देती है। सैयद इशा इसे

१—'रानी केतकी की कहानी' के सभी निर्देश अथवा शीर्षक बाहर की बोली के ढग पर ही हैं। सैयद इंशा की पद-योजना या

हो नहीं सकता। इसी तरह भले लोग 'अच्छों से अच्छे' का बाहरी बोली से बड़ा लगाव है। उसके बिना उनका काम चल नहीं सकता। इसलिये उन्होंने सैयद साहब से कहा कि 'यह नहीं होने का'।

मित्र महोदय की यह पकड़ कितनी पक्की है। सचमुच 'हिंदवी' का 'भाषा' और 'अच्छों से अच्छे' का 'बाहर की बोली' से गहरा संबंध है। 'हिंदुस्तानी' के प्रेमियों को चाहिए कि इसे अच्छी तरह नोट कर लें और साफ साफ समझ लें कि सच्ची हिंदुस्तानी का संबंध भाषा यानी गँवारी तथा संस्कृत से ही है न कि अरबी फारसी आदि बाहर की बोली से। 'बाहर की बोली' से वास्ता तो उन लोगों का है जो 'अच्छों से अच्छे' यानी उर्दू के फसीह और नजीब हैं। देश की कौन कहे, 'उर्दू-ए-मुअल्ला' के भी किसी कोने में बसते हैं। समूचे देश से उनका कोई संबंध नहीं। और यदि है भी तो शाही लगाव न कि 'भाई बंधु' का संबंध या भाई चारे का कोई रिश्ता।

कहा जा सकता है कि अब वह जमाना लद गया जब 'उर्दू' के कुछ नजीब और फसीह लोग ही 'अच्छे' और 'भले' समझे जाते थे। अब तो मनुष्य मात्र को यह अधिकार मिल रहा है और उर्दू के आचार्य भी उस समय को 'अहदे जाहिलियत' या 'तारीक जमान'[१] कहते हैं। ठीक है। पर कृपया यह तो

१—देखिए भाषा का प्रश्न, ना० प्र० सभा, काशी, संवत १९९९ पृ० १३९ १४० तक।

बताइए कि आज 'बाहर की बोली' का इतना सत्कार क्यों हो रहा है। क्योंकर आज यह घर की बोली बन गई है? क्या इसका भी कुछ रहस्य है?

जो हो, यहाँ हम उसके उद्घाटन में लीन नहीं हो सकते, पर इतना दिखा देना अनुचित भी नहीं समझते कि सैयद इंशा किस तरह अल्लाह और रसूल को याद कर अपनी 'हिंदवी छुट' को पाक बनाते और विद्वानों को पेच में डाल देते हैं। 'हम्द' व 'नात' के रूप में उनका कथन है—

"सिर झुका कर नाक रगड़ता हूँ उस अपने बनानेवाले के सामने जिसने हम सबको बनाया और बात की बात में वह कर दिखाया कि जिसका भेद किसी ने न पाया।"

यह तो हुई अल्लाह की वंदना। अब जरा रसूल की स्तुति भी सुन लीजिए—

"इस सिर झुकाने के साथ ही दिनरात जपता हूँ उस अपने दाता के भेजे हुए प्यारे को, जिसके लिये यों कहा है 'जो तू न होता तो मैं कुछ न बनाता'।"

तात्पर्य यह कि इस 'हिंदवी छुट' मे भी सैयद इंशा ने अपने दीन की दुहाई दी है और अपने मजहब का पालन किया है। याद रहे इसका डौल भी अभी मजहबी है। इसमें 'बाहर की छाँह'[1] साफ दिखाई देती है। सैयद इशा इसे

[1]—'रानी केतकी की कहानी' के सभी निर्देश अथवा शीर्षक बाहर की बोली के ढग पर ही हैं। सैयद इंशा की पद-यो— 'या

छिपाते भी नहीं और अपने नाम का पता किस दुराव से दे जाते हैं—

"इस कहानी का कहनेवाला यहाँ आपको जताता है और जैसा कुछ उसे लोग पुकारते हैं कह सुनाता है।" (डौल डाल एक अनोखी बात का।)

लोग उसे कैसा पुकारते हैं, इसे हम-आप अच्छी तरह जानते हैं। इंशा अल्लाह को कौन नहीं जानता ? पर क्या आप यह भी जानते हैं कि यहाँ 'इंशा अल्लाह' किस भगवद्भक्ति को पुष्ट कर रहा है ? क्या कभी आपने किसी सच्चे मुसलिम के मुँह से 'इंशा अल्लाह' नहीं सुना है ? यदि हाँ, तो सैयद इंशा की इस चातुरी, इस लगन और इस मजहब की पाबंदी की दाद दीजिए और इस भावना को दिल से निकाल दीजिए कि 'हिंदवी' इसलाम के प्रतिकूल है। सैयद इंशा ने तो 'हिंदवी छुट' में भी इसलाम को मिला दिया है—उसकी एक झलक दिखा दी है। हाँ, देखने को आँख चाहिए और परखने को बुद्धि। केवल कठोर धर्मांधता से सचाई का काम नहीं चल सकता। हिंदी में तो इसलाम कूट कूट कर भरा गया है। समय इसे भी सिद्ध कर दिखाएगा।

अभी तक 'हिंदवी छुट' का जो रूप सामने आया है वह कहानी नहीं, कहानी की भूमिका है। उसमें कुछ न कुछ

तरकीब का यह ढंग विचारणीय है, उर्दू और हिंदी का ढर्रा अलग अलग दिखाई दे रहा है।

'बाहरी बोली' की 'छाँह' है। कदाचित् यही कारण है कि सैयद इंशा आगे चलकर 'बोलचाल की दूल्हन का सिंगार' का संकेत करने के उपरांत अपनी 'हिंदवी छुट' की कहानी का आरंभ करते हैं। उनकी 'हिंदवी छुट' का सच्चा भाव यह है—

"किसी देश में किसी राजा के घर एक बेटा था। उसे उसके माँ-बाप और सब घर के लोग कुँवर उदयभान कह के पुकारते थे। सचमुच उसके जोबन की जोत में सूरज की एक सोत आ मिली थी। उसका अच्छापन और भला लगना कुछ ऐसा न था जो किसी के लिखने और कहने में आ सके।" (कहानी के जोबन का उभार और बोलचाल की दूल्हन का सिंगार।)

सैयद इंशा के 'भले लोग अच्छों से अच्छे' में केवल पुरुष ही न थे। महिलाओं[1] की भी उनमें गणना थी। अस्तु, उनकी भी बोलचाल को देख लीजिए—

१—सैयद इंशा ने '*दरियाए लताफत*' में '*बेगम*', '*खानम*' और 'कसबी' को भी प्रमाण माना है पर कुछ 'क़ाबिल' 'ज़नों' का ही। उनका कहना है—

"सिवाय बादशाह हिंदोस्तान कि ताज फ़साहत बर सर ओ मीज़ेबद, चंद अमीर व मुसाहिब शाँ व चंद ज़ने क़ाबिल अज़

"चूल्हे और भाड में जाय यह चाहत जिसके लिये आपको माँ-बाप का राज-पाट, सुख, नींद, लाज छोड़कर नदियों के कछारों में फिरना पड़े।........इस बात पर पानी डाल दो नहीं तो पछतावोगी और अपना किया पाओगी। मुझसे कुछ न हो सकेगा। तुम्हारी जो कुछ अच्छी बात होती तो मेरे मुँह से जीतेजी न निकलती, पर यह बात मेरे पेट नहीं पच सकती। तुम अभी अल्हड हो। तुमने अभी कुछ देखा नहीं। जो ऐसी बात पर सचमुच ढलाव देखूँगी तो तुम्हारे बाप से कहकर वह भभूत जो वह मुआ निगोडा भूत मुछदर का पूत अवधूत दे गया है, हाथ मुरकवा कर छिनवा लूँगी।" मदनवान का साथ देने से नहीं करना।)

सैयद इशा की 'हिंदवी छुट' बोलचाल की भाषा है। बोल-चाल के अनेक रंग होते हैं। एक ढर्रे के लोग एक ढंग की भाषा बोलते हैं तो दूसरे ढंग के बिल्कुल दूसरे ढर्रे की। इस प्रकार एक ही काल और एक ही देश में एक ही भाषा के भिन्न भिन्न रूप दिखाई दे जाते हैं। इस लेख का ध्येय यद्यपि सैयद इशा की 'हिंदवी छुट' का पूरा पूरा परिचय प्राप्त कराना नहीं है, तथापि इसका कुछ निर्देश यहाँ इस दृष्टि से कर दिया जाता है कि इसके आधार

क़िस्म बेगम वज़्बानम व कसबी हस्त द, हर लफ़्ज़े कि दरीँहा इस्तैमाल-याफ़्त ज़बान उर्दू शुद न ईं कि हर कस कि दर शाहजहानाबाद मी बाशद हर चि गुफ़्तगू कुनद मोतबर बाशद।" पृ० ६४

पर उनकी 'हिंदवी छुट' का कुछ मर्म समझा जा सके और हिंदी-हिंदुस्तानी का व्यर्थ का मन-मुटाव मिट सके।

सैयद इंशा के 'भले लोग अच्छों से अच्छे' यह भली भाँति जानते थे कि उसी उर्दू में दूसरे ढंग की भाषा का भी व्यवहार होता है जिसे उर्दू के लोग टकसाल[1] से बाहर की भाषा नहीं समझते। निदान सैयद इंशा अपनी कहानी में उस ढंग की भाषा का भी विधान कर जाते हैं। उदाहरण के लिये दो-एक अवतरण देख लीजिए। रानी केतकी के लिये गोसाईं महेंद्र गिरि के जाने के प्रसंग में सैयद साहब किस भाव से लिखते हैं—

"गुरूजी गोसाईं जिनको दंडवत् है सो तो वह सिधारते हैं। आगे जो होगी सो कहने में आवेगी।"

यह तो हुई 'अच्छों से अच्छे' की पंडिताऊ 'हिंदवी छुट'। अब तनिक पंजाबी[2] रंग भी देख लीजिए। उदयभान सिंहासन पर बैठ गए हैं और—

१—अभी 'नासिख' की लखनवी टकसाल नहीं खुली थी। इसी लिये 'रानी केतकी की कहानी' में बहुत से 'भाषा' और 'संस्कृत' के ऐसे 'ठेठ' और 'प्रचलित' शब्द आ गए हैं जो आज उर्दू क्या 'हिंदुस्तानी' से भी बाहर कर दिए गए हैं।

२—आज लखनऊ पंजाबी उर्दू की घोर निंदा में मग्न है। पंजाब की उर्दू टकसाली नहीं मानी जाती।

"दोनों महारानियाँ समधिन पन के आपस में मिलियाँ चलियाँ और देखने-दाम्हने को कोठों पर पदन के किवाड़ों की आड़ तले आ बैठियाँ।" (दूल्हा का सिंहासन पर बैठना।)

सारांश यह कि सैयद इंशा अल्लाह खाँ ने अपनी 'हिंदवी छुट' की पैज को निभाने में किसी बात की कमी नहीं की, बल्कि उस समय के मुसलमानों की शिष्ट बोलचाल की भाषा में एक ऐसी कहानी रच डाली जो आज भी बड़े काम की साबित हो सकती है। हम यह नहीं चाहते कि देश में केवल 'हिंदवी छुट' का प्रचार हो, पर इतना अवश्य कहते हैं कि राष्ट्र के कल्याण और लोक के मंगल के लिये यह अनिवार्य है कि हम 'हिंदवी' का स्वागत करें और विदेशियों के इस बहकावे में कभी न आवें कि 'हिंदवी' हिंदुओं की भाषा का नाम है, मुसलमानों का उससे कोई संबंध नहीं। मुसलमानों ने 'हिंदवी' को किस तरह बढ़ाया है, इसकी चर्चा हम अन्यत्र करेंगे। यहाँ तो हमारी आँखें खोलने के लिये सैयद इंशा की 'हिंदवी छुट' ही बहुत है।

———

खड़ी बोली की निरुक्ति

खडी बोली सचमुच एक विलक्षण नाम है। किसी भाषा का नाम खडी बोली हो नहीं सकता। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश अथवा उर्दू तथा रेखता आदि नामों की निरुक्ति पर ध्यान देने से यद्यपि इस नाम की विलक्षणता बहुत कुछ दूर हो जाती है तथापि इसकी खटक बराबर जी में बनी रहती है और बार बार यही प्रश्न उठता है कि आखिर इसकी निरुक्ति क्या है, क्यों इसका नाम खडी बोली पड गया। क्या संस्कृत, प्राकृत, उर्दू, रेखता आदि की भाँति इसका भी नाम चल निकला और धीरे धीरे कालचक्र के प्रभाव से इसका अर्थ कुछ से कुछ और हो गया? कहना न होगा कि इसी जिज्ञासा की प्रेरणा और इसी चिंता की शांति के लिये अब तक खडी बोला की नाना प्रकार की व्याख्याएँ की गई हैं और एक से एक निराले और बेतुके रूप में हमारे सामने आती रही हैं। खडी बोली की खरी निरुक्ति क्या है? किस प्रकार उसका निर्देश एक निश्चित देशभाषा अथवा बोली के लिये स्थिर हो गया आदि प्रश्नों पर विचार करने के पहले ही यह उचित जान पडता है कि हम उन सारी निरुक्तियों को अच्छी तरह देख लें जो खडी बोली का भेद खोलने के लिये आगे बढीं पर बुद्धि के दबाव के कारण कहीं ठिठककर रह गईं। उनसे कुछ करते-धरते नहीं बना।

सर्वप्रथम स्वर्गीय पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरीजी की विनोदात्मक निरुक्ति को लीजिए। किसी समय उन्होंने अपने एक वैयाकरण मित्र से हँसी में कहा था कि "खड़ी बोली उर्दू पर से बनाई गई है, अर्थात् हिंदी मुसलमानी भाषा है।" उनके कहने का तात्पर्य था—

"हिंदुओं की रची हुई पुरानी कविता जो मिलती है वह व्रजभाषा या पूर्वी बैसवाड़ी, अवधी, राजस्थानी, गुजराती आदि ही में मिलती है अर्थात् 'पड़ी बोली' में पाई जाती है। खड़ी बोली या पक्की बोली या रेख़ता या वर्तमान हिंदी के आरंभ-काल के गद्य और पद्य को देखकर यही जान पड़ता है कि उर्दू रचना में फारसी अरबी तत्सम या तद्भवों को निकालकर संस्कृत या हिंदी तत्सम या तद्भव रखने से हिंदी बना ली गई है। इसका कारण यही है कि हिंदू तो अपने अपने घरों की प्रादेशिक और प्रांतीय बोली में रँगे थे, उसकी परंपरागत मधुरता उन्हें प्रिय थी। विदेशी मुसलमानों ने आगरे, दिल्ली, सहारनपुर, मेरठ की 'पड़ी' भाषा को 'खड़ी' बनाकर अपने लश्कर और समाज के लिये उपयोगी बनाया, किसी प्रांतीय भाषा से उनका परंपरागत प्रेम न था। .. मुसलमानों में बहुतों की घर की बोली खड़ी बोली है।"[१]

गुलेरीजी के कहने से इतना तो स्पष्ट है कि खड़ी बोली का मुसलमानों से पूरा पूरा संबंध है और उन्हीं ने 'पड़ी' बोली को

१—ना० प्र० पत्रिका सं० १९७८ पृ० २४२-४४।

'खड़ी' कर उसे अपनी भाषा बना लिया। उधर बेली महोदय की चेतावनी[1] है कि खड़ी बोली हिंदी भाषा का शब्द है और उसी की दृष्टि से उस पर विचार भी होना चाहिए। इस प्रकार के द्वंद्व में न पड हमें यह देख लेना है कि गुलेरीजी के उक्त कथन से खडी बोली का अर्थ कहाँ तक खुलता है। गुलेरीजी ने 'खड़ी बोली', 'रेखता' या 'पक्की बोली' को एक ही माना है। इसलिये हम यह नहीं कह सकते कि उन्होंने रेखता के 'गिरे-पडे' अर्थ के आधार पर खडी बोली के अर्थ की कल्पना की है बल्कि सरलता से यह कह सकते हैं कि उन्होंने खड़ी के ढग पर 'पडी' को भी चालू कर दिया है। आश्चर्य की बात है कि गुलेरीजी ने 'खडी' और 'पक्की' को एक कर दिया है जब कि वास्तव में ये परस्पर विरोधी शब्द हैं। गुलेरीजी के 'लश्कर' शब्द में 'उर्दू' की भनक सुनाई पडती है पर उससे कुछ खडी बोली की निरुक्ति में मदद नहीं मिलती। निदान हमको कहना पडता है कि गुलेरीजी के इस विनोदात्मक कथन से हमारा कुछ बनता बिगडता नहीं दिखाई देता। उनकी 'खडी' 'पडी' की जोड को यहीं छोड अब तनिक मौलाना अब्दुल हक साहब की बात पर ध्यान दें। मौलाना हक का दावा है—

"खडी बोली के माने हिंदुस्तान मे आम तौर पर गँवारी बोली के हैं जिसे हिंदुस्तान का बच्चा बच्चा

१—ना० प्र० पत्रिका स ० १९९३ पृ० १०७, १०८।

वर्माजी ने 'कदाचित्' शब्द को जान-बूझकर इसी लिये रख दिया था कि यह उनका निर्भ्रांत या निश्चित मत न समझ लिया जाय। पर मौलाना साहब को यह बात पसद न आई, उन्होंने 'कदाचित' को साफ कर दिया और एक पक्की राय कायम कर ली।

'खडी खड़ी' से वर्माजी का वास्तविक तात्पर्य क्या है, यह हम ठीक ठीक नहीं कह सकते, किंतु इतना जानते अवश्य हैं कि 'खडी बोली' की 'कर्कशता' और ब्रजभाषा की 'मधुरता' को लेकर खडी बोली की 'खड़ी-खडी' अथवा 'उजड्ड' व्याख्या बराबर की जाती है। प्राय लोग कहते यही हैं कि खड़ी बोली का अर्थ है 'भौंडी' या 'उजड्ड' बोली। इस निरुक्ति के विधाता, इसके अतिरिक्त कुछ और कह ही नहीं सकते कि ब्रजभाषा के प्रेमियों या भक्तों ने इस भाषा का यह नाम धरा। हो सकता है, पर हमें इसके सबध में कुछ निवेदन कर देना है। हमारा वक्तव्य है कि इस प्रकार का प्रयोग व्यवहार में नहीं है और ब्रजवाले शायद इसका प्रयोग भी इस[1] अर्थ में नहीं करते। रही बुदेलखड और मारवाड की बात, उस पर भी थोडा विचार कर लेना चाहिए। डाक्टर टी० ग्रैहम बेली का निष्कर्ष है—

१—विश्वविख्यात भाषामनीषी सर जार्ज ग्रियर्सन का कहना है कि आगरा प्रांत के पूर्व की ब्रज भाषा को भी 'खरी (खड़ी) बोली' कहते हैं। देखिए भाषासर्वे की भूमिका परिशिष्ट २, पृ० ४६६।

"सर जार्ज ग्रियर्सन ने कामताप्रसाद गुरु के 'हिंदी व्याकरण' पृ० २५ का जो संकेत अपने एक निजी पत्र में दिया है उसके लिये मैं उनका ऋणी हूँ। उसमें लिखा है कि बुंदेलखंड में खड़ी बोली को 'ठाढ़' बोली कहा जाता है। इस 'ठाढ़' शब्द का भी वस्तुतः 'खड़ा' ही अर्थ होता है। इसके अतिरिक्त डाक्टर बी० एस० पंडित ने, जिनकी मातृभाषा 'मारवाड़ी' है, मुझे बताया है कि 'मारवाड़ी' में 'खड़ी बोली' को 'ठाठ बोली' कहा जाता है। यहाँ 'ठाठ' का अर्थ खड़ा होता है। इस प्रकार इस बोली के हमें तीन नाम मिलते हैं और प्रत्येक का अर्थ खड़ी भाषा होता है।"[1]

बेली महोदय के इस श्रम के लिये हम उनके कृतज्ञ हैं, पर विवेक के अनुरोध से उनसे सहमत नहीं। जहाँ तक हमें पता है 'खड़ा' या 'ठाढ़' या 'ठाठ' का प्रयोग किसी निश्चित भाषा के लिये विहित नहीं है। विशेषण के रूप में इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग बोलचाल या व्यवहार में पाया जाता है। अभी उस दिन एक बहराइच के सज्जन ने गोंडा की बोली के लिये ठेठ 'ठाढ़' शब्द का प्रयोग किया था। इस प्रकार के विशेषणों का तात्पर्य यह होता है कि लोग अन्य बोलियों को उतना महत्त्व नहीं देते जितना अपनी जन्म बोली को। यह मानव-स्वभाव है कि हम अपनी चीज को औरों से बढ़कर समझते हैं।

१—ना० प्र० पत्रिका सं० १९९३, पृ० १०६।

जानता है, वह न कोई खास जबान है और न जबान की कोई शाख।"[1]

मौलवी साहब के इस दावे पर बहस करने की जरूरत नहीं। मेहरबानी करके उन्होंने इस दावे को आगे चलकर स्वतः नष्ट कर दिया है और साफ कहा है—

"हम समझते हैं कि कोई भी सिर्फ बोली जानेवाली जबान पाक साफ नहीं हो सकती। खड़ी बोली में इब्तदा में किसी किस्म का अदब नहीं मिलता। इसके यही माने होते हैं कि खड़ी बोली बोलने की जबान जरूर थी लेकिन वह अदबी जबान न थी। मुसलमानों न इस जबान को तरक्की दी और इसे एक अदबी साँचे में ढाल दिया। उस वक्त हिंदी में अमूमन् ब्रजभाषा म नज्म लिखी जाती थी। और उसमें जो मिठास और लोच था वह खड़ी बोली में नहीं था। और इसका नाम खड़ी बोली इसलिये रखा गया था कि यह बोली स ख्त थी और कानों को इतनी मीठी नहीं मालूम होती थी"।[2]

अब मौलाना हक का कहना हुआ कि ब्रजभाषा की अपेक्षा सख्त होने के कारण इसका नाम खड़ी बोली रखा गया। कब और किस प्रकार रखा गया, किसने रखा आदि प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया गया। पर सच पूछिए तो 'सख्त' 'कड़ी' का

१—उर्दू, अंजुमने तरक्कीए उर्दू औरंगाबाद (दकन), अब (हिंद) नई देहली, जुलाई १६३३, पृ० ५६०।

२—उर्दू, वही अप्रैल १६३७, पृ० ४६३।

वाचक है न कि 'खड़ी' का द्योतक। मौलाना साहब ने इस बार भी अर्थ देने में उतावली की। खड़ी को 'कड़ी' समझ लिया। पहली बार 'गँवारी बोली' और दूसरी बार 'स.ख्त बोली'; देखें तीसरी बार 'खड़ी बोली' क्या रंग लाती है। शायद अब की बार आप इसे मरदानी बोली करार दें, क्योंकि उर्दू को आपने 'औरतों की जबान' कहा है और उर्दू के कोशकार इसे 'मर्दों की बोली' मानते भी हैं। रही बीच की हिंदुस्तानी, सो उसकी बात आप स्वयं सोच सकते हैं। जो हो, हमें तो देखना यह है कि मौलाना साहब को इस 'स.ख्त'[1] का इशारा मिला कहाँ से। डाक्टर धीरेंद्र वर्मा का अनुमान है—

"व्रजभाषा की अपेक्षा यह बोली वास्तव में खड़ी खड़ी लगती है, कदाचित् इसी कारण इसका नाम खड़ी बोली पड़ा।"[2]

१—श्री वंशीधरजी विद्यालंकार ने उर्दू (अप्रैल सन् १९३४ ई०, पृ० ४७४) में एक लेख लिखा है। मौलाना हक उससे प्रभावित हैं। पर 'खड़ी बोली' की कर्कश व्याख्या का निर्देश उससे भी पहले वर्माजी ने किया था, इसलिये उनका उल्लेख किया गया है। वंशीधरजी ने संस्कृत के 'खर' से 'खड़ी' को निकाला है और उसका अर्थ किया है "स.ख्त, कठोर और खुरदरा, जिसमें किसी तरह की नरमी और नजाकत न हो।" फिर भी बात वही रही जो वर्माजी ने कही है। इस पर अलग विचार करने की जरूरत नहीं।

२—हिंदीभाषा का इतिहास (हिंदुस्तानी एकेडमी) सन् १९३३, पृ० ४१।

वर्माजी ने 'कदाचित्' शब्द को जान-बूझकर इसी लिये रख दिया था कि यह उनका निर्भ्रान्त या निश्चित मत न समझ लिया जाय। पर मौलाना साहब को यह बात पसंद न आई, उन्होंने 'कदाचित' को साफ कर दिया और एक पक्की राय कायम कर ली।

'खड़ी खड़ी' से वर्माजी का वास्तविक तात्पर्य क्या है, यह हम ठीक ठीक नहीं कह सकते, किंतु इतना जानते अवश्य हैं कि 'खड़ी बोली' की 'कर्कशता' और व्रजभाषा की 'मधुरता' को लेकर खड़ी बोली की 'खड़ी-खड़ी' अथवा 'उजड्ड' व्याख्या बराबर की जाती है। प्राय लोग कहते यही हैं कि खड़ी बोली का अर्थ है 'भोंडी' या 'उजड्ड' बोली। इस निरुक्ति के विधाता, इसके अतिरिक्त कुछ और कह ही नहीं सकते कि व्रजभाषा के प्रेमियों या भक्तों ने इस भाषा का यह नाम धरा। हो सकता है, पर हमें इसके संबंध में कुछ निवेदन कर देना है। हमारा वक्तव्य है कि इस प्रकार का प्रयोग व्यवहार में नहीं है और व्रजवाले शायद इसका प्रयोग भी इस[1] अर्थ में नहीं करते। रही बुंदेलखंड और मारवाड़ की बात, उस पर भी थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। डाक्टर टी० ग्रैहम बेली का निष्कर्ष है—

१—विश्वविख्यात भाषामनीषी सर जार्ज ग्रियर्सन का कहना है कि आगरा प्रांत के पूर्व की व्रज भाषा को भी 'खरी (खड़ी) बोली' कहते हैं। देखिए भाषासर्वे की भूमिका परिशिष्ट ३, पृ० ४६६।

"सर जार्ज ग्रियर्सन ने कामताप्रसाद गुरु के 'हिंदी व्याकरण' ० २५ का जो संकेत अपने एक निजी पत्र में दिया है उसके लिये मैं उनका ऋणी हूँ। उसमें लिखा है कि बुंदेलखंड में खड़ी बोली को 'ठाढ' बोली कहा जाता है। इस 'ठाढ' शब्द का भी वस्तुतः 'खड़ा' ही अर्थ होता है। इसके अतिरिक्त डाक्टर वी० एस० पंडित ने, जिनकी मातृभाषा 'मारवाड़ी' है, मुझे बताया है कि 'मारवाड़ी' में 'खड़ी बोली' को 'ठाठ बोली' कहा जाता है। यहाँ 'ठाठ' का अर्थ खड़ा होता है। इस प्रकार इस बोली के हमें तीन नाम मिलते हैं और प्रत्येक का अर्थ खड़ी भाषा होता है।"[१]

बेली महोदय के इस श्रम के लिये हम उनके कृतज्ञ हैं, पर विवेक के अनुरोध से उनसे सहमत नहीं। जहाँ तक हमें पता है 'खड़ा' या 'ठाढ़' या 'ठाठ' का प्रयोग किसी निश्चित भाषा के लिये विहित नहीं है। विशेषण के रूप में इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग बोलचाल या व्यवहार में पाया जाता है। अभी उस दिन एक बहराइच के सज्जन ने गोंडा की बोली के लिये ठेठ 'ठाढ' शब्द का प्रयोग किया था। इस प्रकार के विशेषणों का तात्पर्य यह होता है कि लोग अन्य बोलियों को उतना महत्त्व नहीं देते जितना अपनी जन्म बोली को। यह मानव-स्वभाव है कि हम अपनी चीज को औरों से बढ़कर समझते हैं।

१—ना० प्र० पत्रिका सं० १९९३, पृ० १०६।

इसमें किसी का दोष नहीं। दूसरे यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि बुंदेलखंड का 'ठाड' और मारवाड़ का 'ठाठ' इस खडी बोली के 'खड़ा' के अनुवाद नहीं हैं। कारण, बुंदेलखंड या मारवाड के ग्रामीणों को इस बोली का पता क्या जो इसका नाम रखने जाते? कामताप्रसाद गुरुजी ने तो स्पष्ट लिखा है—

"बुंदेलखंड में इस भाषा (खडी बोली) को 'ठाड बोली' या तुर्की कहते हैं।"[१]

इससे प्रतीत तो यह होता है कि यह भाषा मुसलमानों के मुँह से अरबी फारसी से भरी हुई ही उनके कान तक पहुँचती थी और वे इसी लिये इसे 'तुर्की' कहते थे और जब बाद में इसके लिये खडी बोली का नाम चल निकला तब 'ठाड' बोली कहने लगे। कुछ भी हो, इससे खडी बोली की निरुक्ति में विशेष सहायता नहीं मिल सकती। अतएव इस पर विवाद व्यर्थ है।

खडी बोली की 'खडी खडी' व्याख्या का सूत्रपात व्रजभाषा और खडी बोली के द्वंद्व से होता है। भारतेंदु हरिश्चंद्र का कहना है—

"जो हो, मैंने आप कई बेर परिश्रम किया कि खडी बोली में कुछ कविता बनाऊँ पर वह मेरे चित्तानुसार नहीं बनी। इससे यह

१—हिंदी व्याकरण (ना० प्र० सभा) सं० १६८४, पृ० २५ (नोट)।

निश्चय होता है कि ब्रजभाषा ही में कविता करना उत्तम होता है और इसी से कविता ब्रजभाषा मे ही उत्तम होती है।"[1]

इतने से ही भारतेंदुजी को संतोष नहीं हुआ। उन्होंने इसके कारण का पता लगाया और 'नई भाषा' में एक दोहा लिखा—

"भजन करो श्रीकृष्ण का मिल करके सब लोग।
सिद्ध हो गया काम औ छूटेगा सब सोग।"

इस कविता के विषय मे वह स्वतः कहते हैं—

"अब देखिए यह कैसी भोंडी कविता है। मैंने इसका कारण सोचा कि खडी बोली में कविता मीठी क्यों नहीं बनती तो मुझको सबसे बडा यह कारण जान पडा कि इसमे क्रिया इत्यादि मे प्रायः दीर्घ मात्रा होती है, इससे कविता अच्छी नहीं बनती।"[2]

भारतेंदुजी ने इसकी घोषणा 'हिंदीवर्द्धिनी सभा' इलाहाबाद में (सन् १८७७ ई० में) की थी। लोगों ने 'भोंडी' और 'मीठी' को चुन लिया। खडी बोली की 'भोंडी' या 'खडी खडी' व्याख्या चल पडी और धीरे धीरे जड पकडती गई। आज मैदान उसी के हाथ रहा।

ब्रजभाषा के सामने जिस खडी बोली को 'खडी खडी' होना पडा, रेखता या उर्दू के सामने उसी को 'खरी खरी'। कुछ लोगों

१—हिंदी भाषा (खड्गविलास प्रेस) सन् १८८३ ई० पृ० ३।
२— " " " पृ० १४।

का कहना है कि व्रज-माधुरी के पुजारी 'ड' को प्यार की दृष्टि से नहीं देखते। अतएव उन्होंने इसका नाम 'खरी' बोली रखा होगा और बाद में वह खड़ी हो गया होगा। उनकी[1] दृष्टि में 'खरी खरी सुनाने' के कारण इसका नाम खरी बोली पड़ा। इस प्रकार की अल्हड़ व्याख्या को प्रमाद का परिणाम समझ हम 'खरी' की उस निरुक्ति पर विचार करना चाहते हैं जो बहुत दिनों से प्रचलित है और जिसका अर्थ 'शुद्ध' किया जाता है। इस मत के मनीषियों की दृष्टि में आरम्भ में 'खरी बोली' नाम इसलिये रखा गया था कि इसमें म्लेच्छ भाषा के शब्द न थे। यह बिल्कुल शुद्ध भाषा थी। साथ ही कुछ लोगों की यह भी धारणा[2] है कि 'खरी' का अर्थ 'टकसाली' है। यही खरी बिगड़ कर खड़ी बन गई है। इस 'खरी' और 'खड़ी' के घपले का एक बहुत अच्छा उदाहरण इस्टविक महोदय के कोश में मिलता है। 'खड़ा' का अर्थ देते हुए उन्होंने लिखा है—

"खड़ा, Erect, upright steep, standing. 2. Genuine, pure when it=खरा Khara."[3]

यद्यपि खड़ा (Khara) में उन्होंने 'ड़' का स्पष्ट निर्देश कर दिया है तथापि नागरी के 'खरा' और प्रकरण के विचार से उनको

१—कविता-कौमुदी, द्वितीय भाग 'ख० क० इतिहास' पृ० ८।

२—हिंदी भाषा और साहित्य, बाबू श्यामसुंदरदास, इंडियन प्रेस, प्रयाग द्वि० संस्करण, पृ० ३० (नोट)।

३—प्रेमसागर, नवीन संस्करण सन् १८५१ ई०, (हर्टफोर्ड) पेरा।

'खरा' ही इष्ट है। उनकी दृष्टि में जब खड़ा 'खरा' का पर्याय होता है तब उसका अर्थ 'शुद्ध' होता है। सीधे 'खड़ा' में उन्हें यह अर्थ दिखाई नहीं देता। किंतु खडी बोली के प्रसंग में हम उन्हें अधिक सचेत पाते हैं। वहाँ भी वे 'खडा' का अर्थ 'शुद्ध' करते हैं, पर 'खरी' को भुलाकर। 'खरी' का उल्लेख नहीं करते। देखिए—

"खड़ी बोली Khariboli, The *true genuine* language, i. e. the pure Hindi."[१]

आश्चर्य है कि डाक्टर बेली जैसे पारखी समीक्षक ने इस्टविक महोदय की जेनुयिन (genuine) व्याख्या पर ध्यान नहीं दिया और प्योर (pure) को 'खरी' का अनुवाद मात्र मान लिया। उनसे ऐसा क्यों हो गया, इसके भी कारण हैं। पहला कारण तो कोश मे 'खरा' का विधान है और दूसरा खड़ी बोली की निजी निरुक्ति। उनके विचार मे—

"खड़ी शब्द का अर्थ है उठी और जब यह किसी भाषा के लिये पहले प्रयुक्त हुआ होगा तब उसका अर्थ 'प्रचलित' रहा होगा।"[२]

अन्यत्र वे स्वतः कहते हैं[३]—

१—प्रेमसागर, नवीन सस्करण, सन्, १८५१ ई० (हर्टफोर्ड) प्राक्कथन पृ० ४० ।

२—ना० प्र० पत्रिका, स० १९९३, पृ० १०६ ।

३—"My own explanation is that the word means simply 'standing', then 'existing', 'current', established "

—ज० रो० ए० सु० सन् १९२६ ई०, पृ० ७२२ ।

"मेरी निजी व्याख्या है कि इस शब्द का सामान्य अर्थ है खड़ा, फिर प्रस्तुत, प्रचलित और स्थापित।"

इस प्रकार बेली महोदय ने इस्टविक महोदय की 'जेनुयिन' (genuine) को छोड़ दिया और केवल उनकी 'खरी' को जनता के सामने रखा। उनके करेंट (current) अर्थ पर आगे चलकर विवाद होगा। यहाँ कुछ इस्टविक साहब की जेनुयिन (genuine) पर ध्यान देना चाहिए।

इसमें तो किसी भी जानकार को सदेह नहीं होना चाहिए कि 'खड़ा' का जेनुयिन (genuine) या 'प्रकृत' अर्थ सर्वथा साधु है। *'खड़ा' का अर्थ है 'अपने वास्तविक रूप में'। यद्यपि यह अर्थ* उतना प्रचलित नहीं है जितना स्टैंडिंग (standing) तथापि यह बराबर व्यवहार में आता रहता है। हिंदी शब्दसागर में 'खड़ा' के अनेक अर्थ दिए गए हैं जिनमें हमारे काम के ये हैं—

"खड़ा = (९) बिना पका। असिद्ध। कच्चा। जैसे खड़ा चावल। (१०) समूचा। पूरा। जैसे,—खड़ा चना चबाना।"

अब इन अर्थों पर मनन कीजिए और देखिए कि इनके सहारे 'प्रकृत' के पास तक पहुँचते हैं अथवा नहीं। 'खड़ा चना चबाना' में समूचे के साथ कच्चा का भी विधान है। जब हम किसी पर क्रोध कर 'खड़ा चबा जाने' की धमकी देते हैं तब हमारा मतलब पूरे, आधे या अंश से नहीं होता। बल्कि हम यह प्रकट करना चाहते हैं कि हम इतने कठोर और नृशंस हैं

कि तुम्हें यों ही चट कर जायँगे, पकाने की नौबत भी न आयगी। इसी प्रकार 'खड़ा चावल' का मतलब होता है कि चावल अपने असली रूप में ही रह गया। पक न सका। उसका भात न बना। अस्तु, हम देखते हैं कि 'खड़ा' का 'प्रकृत' या 'ठेठ' अर्थ चालू है, गढ़ंत या केवल कल्पित नहीं।

ठेठ का अर्थ है—

"(२) जिसमें कुछ मेल-जोल न हो। खालिस" तथा "(३) शुद्ध। निर्मल। निर्लिप्त।"

निदान हम कह सकते हैं कि खड़ी बोली का अर्थ है 'प्रकृत', 'ठेठ' या शुद्ध बोली। अब इस 'शुद्ध' के लिये 'खरी' के पास दौड़ लगाने या इधर-उधर बगल झाँकने की जरूरत नहीं। यह 'शुद्ध', 'खड़ी' का ठेठ अर्थ हो गया जो जरा बुद्धि दौड़ाने से सूझ पड़ा।

यह तो हमने देख लिया कि खड़ी बोली का एक अर्थ शुद्ध या खरी बोली भी हो सकता है। अब हमें सिद्ध यह कर देना चाहिए कि वस्तुतः यही खड़ी बोली की मूल निरुक्ति है। इस खड़ी का 'खरी' से कोई अर्थगत विरोध नहीं, केवल रूपगत विवाद है। अतएव इसे यहीं छोड़ अब बेली महोदय के करेंट (current) या 'प्रचलित' अर्थ को लीजिए। सौभाग्य से डाक्टर बेली ने यह मान[1] लिया है कि डाक्टर गिलक्रिस्ट ने इस शब्द का प्रयोग लल्लूजी लाल तथा सदल मिश्र से सीखा।

१—ना० प्र० पत्रिका स० १९९३, पृ० ११०।

अस्तु, हमें देखना यह चाहिए कि खड़ी बोली का प्रयोग उक्त विद्वानों ने किस अर्थ में किया है। पहले सदल मिश्र के प्रयोग पर ध्यान दीजिए। उनका कहना है—

"अब संवत् १८६० में नासिकेतोपाख्यान को कि जिसमें चंद्रावती की कथा कही है, देववाणी से कोई कोई समझ नहीं सकता, इसलिये खड़ी बोली में किया।"[1]

मिश्रजी की खड़ी बोली का वास्तविक अर्थ 'प्रचलित' बोली हो सकता है और डाक्टर बेली का अनुमान ठीक निकल सकता है। पर 'खड़ी' का अर्थ 'प्रचलित' किस प्रकार संभव है, कुछ इस पर भी विचार कर लेना चाहिए। 'खड़ी' का इस प्रकार का प्रयोग नहीं मिलता। 'प्रस्तुत' या 'तैयार' के अर्थ-विस्तार से 'प्रचलित' अर्थ निकाला जा सकता है। पर वह अर्थ नहीं; खींचतान होगी। दूसरी बात यह है कि मिश्रजी ने इसके पहले 'भाषा' का नाम लिया है। वे कहते हैं—

"तिनकी आज्ञा पाय दो-एक ग्रंथ संस्कृत से भाषा व भाषा से संस्कृत किए।"[2]

'भाषा' से उनका तात्पर्य यदि काव्यभाषा से है तो 'खड़ी बोली' का अर्थ और भी चिंत्य है। देववाणी के साथ 'खड़ी बोली' और संस्कृत के साथ 'भाषा' का व्यवहार दैवयोग

१—नासिकेतोपाख्यान, ना० प्र० सभा, भूमिका पृ० २।

२—वही, भूमिका पृ० २।

से हो गया है अथवा जान-बूझकर किया गया है यह भी एक विचारणीय बात है। जो हो, इतना तो निर्विवाद है कि मिश्रजी की 'खड़ी बोली' उनकी निजी या उनके यहाँ[१] की 'प्रचलित' बोली नहीं है और उसमें अरबी-फारसी के प्रचलित शब्द भी नहीं हैं। सदल मिश्र ने भी उसी प्रकार 'भाषा' और 'खड़ी बोली' में रचना की जिस प्रकार लल्लूजीलाल ने 'ब्रजभाषा' और 'खड़ी बोली' में पुस्तकें लिखीं।

लल्लूजीलाल ने प्रेमसागर की भूमिका में लिखा है—

"श्री श्रीयुत गुन-गाहक गुनियन-सुखदायक जान गिलकिरिस्त महाशय की आज्ञा से संवत् १८६० में श्रीलल्लूजीलाल कवि ब्राह्मण गुजराती सहस्र अवदीच आगरेवाले ने विस का सार ले, यामनी भाषा छोड़, दिल्ली आगरे की खड़ी बोली में कह, नाम 'प्रेमसागर' धरा।"

लल्लूजी के इस कथन में 'यामनी भाषा', 'दिल्ली आगरे', 'खड़ी बोली' मार्के के पद हैं। यामनी भाषा से उनका तात्पर्य अरबी फारसी से लदी यानी उर्दू से है न कि स्वयं अरबी-फारसी से। लल्लूजी ने इसके पहले 'रेखते की बोली' में पोथियाँ बनाई थीं। उनका कहना है—

"एक दिन साहिब ने कहा कि—

१—श्री सदल मिश्र विहार प्रांत के निवासी थे। 'खड़ी बोली' उनके प्रांत की प्रचलित बोली नहीं कही जा सकती।

'ब्रजभाषा में कोई अच्छी कहानी हो, उसे रेखते की बोली में कहो।'

मैंने कहा 'बहुत अच्छा, पर इसके लिये कोई पारसी *लिखनेवाला दीजे, तो भली भाँति लिखी जाय।*"[1]

लल्लूजी को पारसी लिखनेवाले मिले और उन्होंने "एक बरप में चार पोथी का तरजुमा ब्रजभाषा से रेखते की बोली में किया।"[2] इनके सिवा ब्रजभाषा में राजनीति की रचना की। *अब उनसे 'रेखते की बोली' और 'ब्रजभाषा' में रचना करने को* नहीं कहा गया बल्कि उन्हें 'खडी बोली' में लिखने की आज्ञा मिली। लल्लूजी ने—

"यामनी भाषा छोड, दिल्ली आगरे की खडी बोली में"[3] *रचना की।*

'खड़ी' के लिये उन्हें 'यामनी भाषा' यानी उर्दू या 'रेखते की बोली' को छोडना पड़ा। यह 'खडी' 'प्रचलित' (टकसाली) न थी बल्कि खडी (ठेठ) थी। इसका पुष्ट और अकाट्य प्रमाण यह है कि *लल्लूजी की लालचंद्रिका की भूमिका में यामनी शब्द प्रयुक्त हैं।* हम उसी भाषा को लल्लूजी की निजी या प्रचलित भाषा मानते

१—लालचंद्रिका, सर जार्ज ग्रियर्सन, गवर्नमेंट प्रिंटिंग, कलकत्ता, सन् १८६६ ई०, कवि का परिचय, पृ० ३।

२—वही, कवि का परिचय, पृ० ३।

३—प्रेमसागर की भूमिका।

हैं। कारण, उसमें किसी की आज्ञा का पालन या किसी व्रत का विधान नहीं है। केवल अपने मन की बात अपनी भाषा में साफ साफ कही गई है। उसमें किसी नियम या कैद की पाबंदी नहीं है, मन की मौज है। इसके सामने रखकर अब इस बात पर ध्यान दीजिए कि यदि इसका अर्थ 'प्रचलित' होता तो इसके पहले दिल्ली-आगरे का उल्लेख क्यों होता? हमारी तुच्छ बुद्धि में तो यही आता है कि 'खड़ी' का वास्तविक अर्थ है प्रकृत, ठेठ (निरा, खालिस, शुद्ध भी) न कि प्रचलित या टकसाली। लल्लूजी ने प्रेमसागर में फारसी-अरबी शब्दों को छोड़ दिया क्योंकि वे प्रचलित होते हुए भी खड़ी बोली या ठेठ न थे। साथ ही उनको उस ठेठ का प्रचार करना या साहबों को परिचय देना था जो दिल्ली आगरे की ठेठ बोली हो, ग्रामीणों की गँवारी नहीं। उनको ऐसा इसलिये करना पड़ा कि मीर अम्मन आदि के द्वारा दिल्ली-आगरे की 'यामनी' का पूरा पूरा प्रचार हो रहा था और व्रजभाषा का परिचय वे स्वयं करा चुके थे, अब उन्हें केवल 'खड़ी' का रूप साहबों को दिखाना रह गया था, जिसके लिये खड़ी बोली का विधान करना पड़ा।

गिलक्रिस्ट साहब ने लल्लूजीलाल से खड़ी बोली में लिखने को कहा था और मीर अम्मन से 'ठेठ[1] हिंदुस्तानी' में।

मीर अम्मन ने उर्दू यानी उर्दू-ए-मुअल्ला यानी शाहजहानाबाद

१—बागोबहार (न० कि० प्रेस) पृ० ३।

के लालकिले की बोलचाल को लिया और उसी 'उर्दू की जबान' में 'बागोबहार' की रचना की। लल्लूजी ने इस 'उर्दू की जबान' को 'यामनी' समझा और दिल्ली-आगरे की उस खड़ी बोली को पकड़ा जो 'खड़ी' थी यानी उर्दू-ए-मुअल्ला की खराद पर नहीं चढ़ी थी, पक्की या रेखता नहीं बनी थी; बल्कि उसके बाहर के हिंदुओं यानी हिंदियों की बोलचाल की भाषा थी। मीर अम्मन ने बातचीत का ढंग पकड़ा और लल्लूजीलाल ने ब्रजभाषा के लालित्य या काव्यभाषा का।

खड़ी बोली की वास्तविक निरुक्ति बहुत कुछ इस बात से ठीक होगी कि उसके कर्णधार स्वयं गिलक्रिस्ट साहब ने उसका अर्थ क्या समझा। हमें बेली महोदय का कृतज्ञ होना चाहिए कि उन्होंने अपने श्रम से इसे भी खोज निकाला। गिलक्रिस्ट साहब कहते हैं—

"मुझे बड़ा खेद है कि ब्रजभाषा के साथ साथ खड़ी बोली का परित्याग कर दिया गया था। हिंदुस्तानी की यह विशिष्ट पद्धति या शैली (This particular idiom or style of the Hindoostanee) उस भाषा के विद्यार्थियों के लिये बहुत ही अधिक लाभदायक सिद्ध होती।"[1]

१—ना० प्र० पत्रिका सं० १९९३, पृ० ११२ ('दी ओरिएंटल फ़ेबुलिस्ट' सन् १८०३ ई०, पृ० ५)। बेली महोदय का मूल लेख लंदन के ओरियंटल विभाग के सन् १९३६ ई० के बुलेटिन में छपा

डाक्टर गिलक्रिस्ट के इस खेद को देखकर उन लोगों को सचेत हो जाना चाहिए जो बात बात में उर्दू का दम भरते और खड़ी बोली या हिंदी को हौवा या कल की चीज समझते हैं। अस्तु, गिलक्रस्ट साहब के इडियम ऑर स्टाइल (idiom or style) के प्रयोग से स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में खड़ी बोली कोई स्वतंत्र भाषा नहीं बल्कि हिंदुस्तानी की एक शैली-विशेष मात्र है। यह खड़ी बोली क्या है। इसे भी देख लें—

"शकुंतला का दूसरा अनुवाद खड़ी बोली अथवा भारतवर्ष की निर्मल बोली में (or sterling tongue of India) है। हिंदुस्तानी से इसका भेद केवल इसी बात में है कि इसमें अरबी और फारसी का प्रत्येक शब्द छाँट दिया गया है।"[१]

पाठकों को इस बात का पता होगा कि शकुंतला का एक अनुवाद[२] 'रेखते की बोली' में पहले भी हो चुका था। अब इस अनुवाद की आवश्यकता[३] इसलिये पड़ी कि 'उर्दू' से 'भाषा' में

है। विचारणीय अंश मूल रूप में अवतरित हैं। डाक्टर गिलक्रिस्ट के शब्दों का ठीक अनुवाद न होने से उन्हें उद्धृत कर दिया गया है। स्थान और समय के विचार से पूरा अवतरण अँगरेजी में नहीं दिया गया। जिज्ञासु पाठक मूल देखने का कष्ट करें।

१—ना० प्र० पत्रिका स० १९९३ पृ० ११२ ('दी हिंदी-रोमन आर्थोएपिग्राफिक अल्टिमेटम' सन् १८०४ ई०, पृ० १६)।

२—लालचंद्रिका, वही, कवि का परिचय, पृ० ३।

३—ना० प्र० पत्रिका स० १९९३ पृ० ११०।

परिवर्तन सुगम हो और विद्यार्थी ठेठ या देशी शब्दों से अभिज्ञ हों। 'भाषा' से गिलक्रिस्ट साहब का मतलब गँवारी और 'उर्दू' से दरबारी भाषा है। खड़ी बोली को वे आमफहम और आमपसद यानी सरल और सर्वप्रिय समझते थे। इसी लिये उसकी चिंता में मग्न थे, कुछ किसी चाल या लोभ के कारण नहीं जैसा कि उर्दू के लोग प्रमादवश समझते हैं। खड़ी बोली उनके लिये 'शुद्ध हिंदवी ढग की हिंदुस्तानी' थी, कुछ पडिताऊ[1] नहीं।

डाक्टर गिलक्रिस्ट की 'हिंदवी' को देखकर सैयद इशा अल्लाह खाँ की 'हिंदवी छुट' याद आ गई। उनकी समझ में यह बात जँचती ही नहीं थी कि अरबी-फारसी के बिना कोई रचना हो ही नहीं सकती। निदान उन्होंने 'हिंदवी छुट' का व्रत लिया किंतु उसे बना दिया लखनऊ की मजलिस की चीज।

१—लल्लूजीलाल ने 'प्रेमसागर' में तद्भव शब्दों का प्रयोग किया है और एक ही शब्द को अनेक रूपों में लिखा है। इसका प्रत्यक्ष कारण यही है कि खड़ी बोली में सभी रूप प्रचलित थे। यदि खड़ी का अर्थ 'शुद्ध' होता तो केवल शुद्ध तत्सम शब्दों का प्रयोग मिलता। लल्लूजी के प्रेमसागर को पडिताऊ अथवा शुद्ध संस्कृत-गर्भित भाषा का पथप्रदर्शक कहना भारी भूल ही नहीं असत्य का प्रचार भी है। आशा है हिंदुस्तानी के हिमायती श्री लल्लूजीलाल के पक्ष पर उचित ध्यान दे भाषा के क्षेत्र में अपनी मनमानी न करेंगे।

सैयद इंशा की 'हिंदवी छुट' का अर्थ है दरबारियों की खरी हिंदी। परंतु डा० गिलक्रिस्ट की 'खड़ी बोली' का तात्पर्य है जैसे 'भले लोग आपस में बोलते-चालते हैं'। गिलक्रिस्ट को 'अच्छे से अच्छे' यानी उर्दू-ए-मुअल्ला के लोगों की जरूरत न थी। लल्लूजीलाल का भी काम दिल्ली-आगरे के भले लोगों से चल गया। किंतु उनको व्रजभाषा के लालित्य के लिये बोलचाल से आगे बढ़कर काव्य का पल्ल लेना पड़ा। फिर भी उनकी बोली खड़ी ही रही। 'बाहर की बोली' का उसमें मेल-जोल नहीं हुआ। यदि कहीं उसकी गंध मिली तो उन्हें उसकी परख न हो सकी। अस्तु, हम देखते हैं कि सैयद इंशा 'हिंदवी छुट' और गिलक्रिस्ट की 'खड़ी बोली' का वस्तुतः क ही अर्थ है। सैयद इंशा की कहानी 'ठेठ हिंदी' की कहानी ही जाती है। यही 'ठेठ' 'खड़ी' के लिये भी लागू है। खड़ी बोली' को डा० गिलक्रिस्ट ने स्टर्लिंग टंग ऑव इंडिया sterling tongue of India) कहा है। स्टर्लिंग sterling) का अर्थ है बिना मिलावट की, अपने असली रूप में, खड़ी; मिश्र, मिली हुई या खोटी नहीं; बल्कि खरी, शुद्ध, प्रकृत, ठेठ अपने सच्चे रूप में आदि। आश्चर्य की बात है कि विद्यालंकार[१] जी ने इस क्रम को उलट दिया और 'सख्त' से सच्ची या 'हकीकी' को इसलिये निकाला कि सचाई में सख्ती होती है।

१—उर्दू (वही) अप्रैल सन् १९३४ ई०, पृ० ७७४।
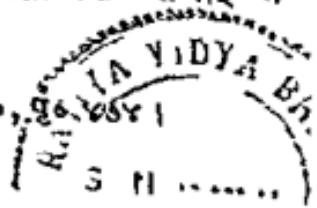
अब डाक्टर बेली की प्रचलित भाषा (current language) को लीजिए। भाग्यवश, डाक्टर गिलक्रिस्ट ने कहीं भी खड़ी बोली की व्याख्या में करेंट लैंग्वेज (current language) का निर्देश नहीं किया है बल्कि इसके लिये प्योर (pure) शुद्ध या खरी का ही प्रयोग किया है। परंतु, जैसा कि डाक्टर बेली ने स्वतः सिद्ध कर दिया है कि कभी डाक्टर गिलक्रिस्ट ने 'खरी' का प्रयोग नहीं किया है बल्कि सर्वत्र उसको खड़ी बोली के लिये 'खड़ी' ही लिखा है। अस्तु, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि खड़ी बोली मूल और शुद्ध नाम है और प्रकृत या ठेठ ही इसका असली अर्थ है, 'प्रचलित' या 'खड़ी खड़ी' नहीं।

'खड़ी' शब्द के इस अर्थ को भुला देने का परिणाम यह हुआ कि 'खड़ी बोली' की निरुक्ति एक पहेली सी हो गई और लोग उसकी मनमानी व्याख्या करने लगे। हिंदी में भी 'खड़ी' की जगह 'खरी'[१] का प्रयोग होने लगा और वह

१—श्री हरसहायलाल वर्मा ने "हिंदी शकुंतला नाटक" की भूमिका में लिखा है—

"संस्कृत शकुंतला में दो भाषा प्रयुक्त है—संस्कृत और प्राकृत। मैंने इस भेद को दर्शाने के हेतु अपने अनुवाद में भी दो बोली रखी है—संस्कृत के बदले खरी बोली, और प्राकृत के बदले ब्रजबोली। मनबोली रखने का हेतु यह है कि एक तो यह स्त्री

व्रजभाषा के सामने 'खड़ी खड़ी' या 'खरी खरी' समझी जाने लगी। उर्दू में इसका असली अर्थ बना रहा पर वह गँवारी का वाचक समझा गया। ऐसा क्यों हुआ? इसका कारण प्रत्यक्ष है। बन-सँवरकर निराली सज-धज के साथ जो नई जबान शाही छाप से मजलिसों में फैली और उर्दू के नाम से 'खासपसंद' हुई उसने अपनी लचक से यारों को इतना मोह लिया कि उनकी नजर बिल्कुल बदल गई और उन्होंने नकली को असली मान लिया। फिर असली को गँवारी और फूहड़ न कहें तो नाजबरदारी का दम कैसे भरें! कद्रदानी की सनद भी तो कोई चीज है। बस, मौलाना हक ने उर्दू वालों की स्थिति स्पष्ट कर दी और सदर्प कहा—

"कोई भी सिर्फ बोली जानेवाली जबान पाक साफ नहीं हो सकती"[१]।

न हो। पर हमें तो स्पष्ट कह देना है कि भाषाविशारदों की दृष्टि में वही पाक साफ जबान है जो बोल में है, सिर्फ किताब या मजलिस में नहीं। अतएव हम देखते हैं कि खड़ी बोली का प्रकृत अर्थ उर्दू वालों को भी मान्य है, चाहे यह उनके

प्रभृति मितवादियों के लिये अपने माधुर्य्य से उपयुक्त है, दूसरा यह कि अन्य देश-बोलियों की अपेक्षा यह हिंदी-पाठकों में अधिक प्रचलित है।"

वर्माजी ने सर्वत्र 'खड़ी' की जगह 'खरी' का ही प्रयोग किया है।

१—देखिए इसी पुस्तक का पृष्ठ ६२।

लिये अशिष्ट और भद्दा ही क्यों न हो। इधर ध्यान देने की बात यह है कि उर्दू साहित्य में भी कहीं कहीं 'खड़ी उर्दू' अथवा 'ठेठ उर्दू' का प्रयोग दिखाई दे जाता है। कहने की बात नहीं कि यहाँ भी उनका अर्थ वही होता है जो हिंदी में है। अर्थात् 'खड़ा खड़ा' अथवा 'खरा खरा' नहीं, प्रत्युत 'प्रकृत' और 'ठेठ' ही।

खड़ी बोली की निरुक्ति के विषय में कुछ और कहने की जरूरत नहीं। प्रसंगवश इतना और जान लेना चाहिए कि खड़ी बोली का प्रयोग एक निश्चित बोली के अर्थ में बहुत पहले ही हो गया था और बोल के अर्थ में इसका 'रेख्ते की बोली' से कोई विशेष भेद न होने के कारण उसी बोल के लिये चालू हो गया था। कुछ लोगों की धारणा है कि 'सीधी' बोली के अर्थ में 'खड़ी' बोली का प्रयोग चला। ठीक है। आज भी हमें इस प्रकार के वाक्य सुनाई दे जाते हैं कि "हम अरबी-तड़बी नहीं जानते, सीधी बोली में क्यों नहीं कहते।" सुनाई ही नहीं, कहीं कहीं पुस्तकों में दिखाई भी दे जाता है कि लेखकों ने भाषा के लिये 'सीधी' का प्रयोग किया है। 'तारीख ग़रीबी' के लेखक ने लिखा है—

"लिखा निपट कर सीधी बोली।
जो कुछ गठरी थी सो खोली[1] ॥"

१—ओरियंटल कालेज मैगजीन, लाहौर, नवंबर सन् १९३८ ई० पृ० ८।

याद रहे कि सीधी बोली का यह प्रयोग श्रीलल्लूजीलाल के 'खड़ी बोली' के प्रयोग से लगभग ५० वर्ष पुराना है। अतएव हमारी धारणा है, कि 'खड़ी बोली' 'मुसलमानी' के विरोध का नतीजा है, कुछ 'खड़ा खड़ा' का फल नहीं।

हाँ, तो कहना यह था कि जब उर्दू वालों ने 'हिंदी' शब्द को मतरूक कर अपनी नई जबान का नाम उर्दू रख दिया और हिंदीवालों ने परंपरागत भाषा के अर्थ में हिंदी को अपना लिया तब खड़ी बोली, अवधी और ब्रजभाषा के साथ, एक देशभाषा के रूप मे सामने आई और उसके साहित्य तथा घर की चिंता हुई। होते होते यह उचित जान पड़ा कि खड़ी बोली का प्रयोग केवल बोली के अर्थ में किया जाय और साहित्य के अर्थ में हिंदी भाषा का व्यवहार बना रहे। भविष्य की हम नहीं कहते, पर इतना जानते अवश्य हैं कि अभी खड़ी बोली का सांकेतिक अर्थ निश्चित या सर्वमान्य नहीं हुआ है। इसका प्रयोग बोली, देशभाषा तथा साहित्य या काव्य भाषा के भी अर्थ मे होता है और शायद अभी कुछ दिनों तक होता भी रहेगा। हम लोगों का एकमत होना जरा कठिन है, पर प्रयत्न तो होना ही चाहिए।

'नागरी भाखा वो अछर'

नागरी भाषा और नागरी लिपि को चौपट करने के लिये, समय समय पर, हमारी बहादुर और उदार ब्रिटिश सरकार, किस प्रकार, किन किन चालों का शिकार होती आ रही है अथवा आज किन दबावों और उलझनों में पड़कर उनके विनाश पर तुल गई है, आदि बातों के विवेचन की आवश्यकता आ पड़ी है। याद रहे, यदि आज भी हम सचेत न हुए और अपनी परम प्रिय सनातनी कुम्भकर्णी निद्रा में पड़े रहे अथवा रावणी अभिमान का परिचय दिया तो अवश्य ही हमारा विनाश विनिश्चत है और हमारी राष्ट्रभाषा तथा राष्ट्रलिपि के उद्धार का स्वप्न भी दुर्लभ है। भला जिस चीज की हमें चिंता ही नहीं उसका स्वप्न क्या खाक देखेंगे ? स्वप्न भी तो जीवितों का लक्षण है। क्या कभी मुर्दों ने भी स्वप्न देखा है ?

दूर की बात जाने दीजिए, अभी उस दिन शाही सरकार की अधीनता में कंपनी सरकार ने यह स्पष्ट विधान बनाया था कि—

"किसी को इस बात का उजुर नहीं होएके उपर क दफे का लीखा हुकुम सभसे वाकीफ नहीं है हरी एक जिले के कलीकटर साहेब को लाजीम है के ईस आइन के पावने पर ऐक ऐक केता इसतहारनामा निचे के सरह से फारसी व नागरी भाखा वो

अच्छर में लीखाऐ कै अपने मोहर वो दसतखत से अपने जिला के मालीकान जमीन वो ईजारेदार जो हजुरमे मालगुजारी करता उन सभों के कचहरि मे वो अमानि महाल के देसि तहसीलदार लोग के कचहरी मे भी लटकावही वो अगर मालिक लोग का जमीन वो ईजारेदार का इजारा वो खास तहसील का महाल दरोवसत दो ईआ उससे जेआदे परगना ईआ परगने के किसमत सभ से रहै कलीकटर साहेब को लाजिम है के उस इसतहारनामे को उस हरी एक परगना ईआ उस हरी ऐक कीसमत के सदर कचहरी में लटकावही वो चाहिऐ के उस इसतहारनामे का रसीद उसके लटकावने के तारीख के कैद में मालिकान जमीन वो इजारेदार लोग वो तहसीलदार लोग से लीखाऐ लेही वो उअह मालिकान जमीन वो इजारेदार लोग वो तहीलदार लोग इस बात के जवाब देनेवाले होहिगे के उअह इसतहारनामा उसका लीखा तारीख से ऐक बरीस तक उन सभो के तअलूक के कचहरी में लटकाआया वो कलीकटर साहेब लोग को लाजिम है के इस-तहारनामा अपने कचहरी मे वो अदालत के जज साहेब लोग के कचहरि मे भी तमामी आदमी के बुझने के वासते लटकावही।"[१]

अस्तु, विचार करने की बात है कि कंपनी सरकारने 'तमामी आदमी के बुझने के वासते' जिस भाषा तथा जिस लिपि को चुना है वह फारसी भाषा तथा फारसी खत है अथवा नागरी भाषा और नागरी लिपि।

१—अँगरेजी सन् १८०३ साल, ३१ आईन, २० दफा।

फारसी भाषा तथा फारसी लिपि के प्रसंग में भूलना न होगा कि फारसी ही उस समय की शाही जबान थी और उसी में सारा राजकाज होता था। कंपनी सरकार के हाथ में जो शासन-सूत्र आ गया था यद्यपि वह उसकी प्रभुता का प्रसाद था तथापि कहा यह जाता था कि वास्तव में वह देहली दरबार की कृपा का फल है। अतएव इस कृपा के नाते कंपनी सरकार का यह परम कर्तव्य था कि वह शाही सरकार के साथ चले और किसी प्रकार उसका अहित न होने दे। कहा तो यहाँ तक जाता है कि कंपनी सरकार ने यह स्पष्ट वचन[१] दे दिया था कि वह अपने शासन में फारसी की रक्षा करेगी और किसी तरह उसका अनभल न होने देगी। जो हो, इतना तो प्रत्यक्ष ही है कि इसी शाही संबंध के कारण कंपनी सरकार ने फारसी को अपनाया और आईन में उसका स्पष्ट विधान भी कर दिया। अतएव हमारा कहना है कि उक्त विधान में फारसी की व्यवस्था राजवर्ग के लिये की गई है और नागरी का विधान प्रजा-वर्ग के लिये है। 'तमामी आदमी के बुझने के वासते' सचमुच जिस लोकभाषा और जिस लोकलिपि का प्रयोग किया गया है वह वास्तव में यही हमारी परंपरागत राष्ट्रभाषा नागरी तथा राष्ट्र-लिपि नागरी है जो आज विदेशी मुसलमानों के प्रभाव में आ जाने से हिंदी भाषा तथा हिंदी लिपि के रूप में ख्यात है और

१—मुग़ल और उर्दू, वही, पृ० १४८, १५०।

जिसे प्रमादवश लोग 'हिंदवी' या केवल हिंदुओं की भाषा तथा लिपि कहते हैं। उन्हें इस बात का तनिक भी पता नहीं कि स्वयं मुसलिम लेखकों के यहाँ ऐसा कुछ भेद नहीं। उनके यहाँ हिंदी और हिंदुई एक ही चीज के दो नाम हैं। वे उसी तरह हिंदवी को हिंद की देशभाषा यानी हिंदी समझते हैं जिस तरह फारसी को फारस की या अरबी को अरब की देशभाषा मानते हैं।

फारसी और नागरी के उक्त विधान की प्रकृत व्याख्या यदि ठीक है—गलत साबित कर देने की किसी में हिम्मत नहीं—तो किसी भी विचारशील मनीषी को यह स्वीकार करने में किसी प्रकार का तनिक भी संकोच नहीं हो सकता कि वास्तव में कंपनी सरकार ने नागरी भाषा और नागरी अक्षरों को आरंभ में इसी लिये अपना लिया कि वस्तुतः वही यहाँ की देशभाषा तथा वही यहाँ की देशलिपि थी, यानी उसी भाषा और उसी लिपि के द्वारा लोक-हृदय का परिचय प्राप्त करना सुलभ था और उसी भाषा तथा उसी लिपि के द्वारा उसका कामकाज सुगमता से चल सकता था। और आज? आज न तो वह कंपनी सरकार ही है और न आज वह देहली दरबार ही। आज तो दोनों ने मिलकर भारत सरकार का रूप धारण कर लिया है और इस वक्र-दृष्टि से नागरी भाषा तथा नागरी लिपि को निहारना शुरू कर दिया है कि उसका चट कर जाना एक खिलवाड़-सा हो गया है। आखिर क्यों न हो? क्या एक भी

नागरी का उपासक हममें मौजूद है जो दावे और दिलेरी के साथ सत्य और न्याय के नाम पर भारत सरकार से गोहार लगा सके कि उसका यह काम गर्हित और निंदनीय है? उसका यह काम उसके माथे का कलंक है जो किसी प्रकार धोने से तब तक नहीं मिट सकता जब तक वह फिर उसी न्याय और उसी निष्ठा से काम न ले, और उसी निर्णय पर फिर अमल न करे जिसका परिचय आरंभ में ही, कंपनी सरकार के रूप में उसने स्वतः दे दिया था और जिसका अंत बाद में प्रभुत्व में आकर प्रमादवश, जी बचाने के लिये, किसी के भुलावे में आकर, उसने सहसा कर दिया था और लगातार पूरे सौ वर्ष तक नाक रगड़ते रहने पर भी जिसे आज और भी ठुकराने पर वह आमादा हो गई है। क्या अब भी हम अपनी न्यायनिष्ठ उदार भारत सरकार से न्याय की आशा कर सकते हैं और सत्यप्रेमी राष्ट्र-नेताओं से सत्य की दुहाई दे सकते हैं? यदि हाँ, तो कैसे और किस रूप में?

अँगरेजी सरकार के सिक्कों पर हिंदी

अँगरेजी सरकार के सिक्कों की रामकहानी कितनी अजीब है। अँगरेज जाति की माया का जितना सच्चा पता उसके सिक्कों से चलता है, उतना किसी अन्य साधन से नहीं। अभी कल की बात है। एक उर्दू-भक्त सज्जन ने बड़े गर्व और तपाक से कहा था कि हिंदुस्तान के प्रधान सिक्के—रुपए पर उर्दू है, हिंदी नहीं, जिससे साफ जाहिर है कि उर्दू ही यहाँ की मुल्की जबान है, न कि कल की बनावटी हिंदी। कहने को बात तो बहुत दूर और पते की कह गए पर सच पूछिए तो काम इन दो बड़ी-बड़ी आँखों से भी नहीं लिया। लेते भी कैसे? जब यों ही लोग मुफ्त में मुरीदी करने को तैयार हैं और 'सर' तक बने हुए हैं, तब कोई अपनी आँखों को वृथा कष्ट क्यों दे? क्यों न स्पष्ट घोषणा कर दे कि वस्तुत उर्दू ही इस मुल्क की मुल्की जबान है, और वही इस देश के प्रधान सिक्के—रुपए पर विराजमान है? पर अपने राम का तो कहना यह है कि जनाब 'सर', जरा आँखें खोलकर पढ़िए और देखिए तो सही कि रुपए पर उर्दू जबान है या फारसी भाषा। कृपया भूल न जाइए कि प्रश्न भाषा का सामने है, कुछ लिपि, 'लिखी' या खत का नहीं।

याद रहे भारत-सरकार के चाँदी के सिक्कों पर उर्दू नहीं, फारसी है—फारसी। वही फारसी, जो मुगल सरकार के सिक्कों पर थी। फारसी क्यों, इसका कारण कुछ यह नहीं कि अँगरेज जाति फारसी और उर्दू का भेद नहीं समझती, अथवा कभी वह कंपनी के रूप में मुगल सरकार के अधीन थी, बल्कि यह है कि हम अपनी निजी भाषा से उदासीन हैं, और हममें कुछ ऐसे जीव बस गए हैं, जो आज भी उसी मुगली फारसी के लिये मर मिटने को तैयार हैं। फिर हमारी बहादुर सरकार उनकी बहादुरी की दाद क्यों न दे और क्यों न चाँदी के सिक्कों पर अँगरेजी के साथ ही साथ पुरानी राज-भाषा फारसी को जगह दे? प्रजा की भाषा को जगह तो तब मिले, जब प्रजा भी अपनी निजी सत्ता का परिचय दे और कीड़े-मकोड़ों की तरह केवल साँस लेने के लिये ही जीवित न रहे, और महाप्रभुओं के लिये केवल महाप्रसाद ही न बने।

कितने आश्चर्य और कितनी लज्जा की बात है कि जिस भारत-सरकार के सामने सन् १८६३ ई० में यह प्रस्ताव आया था कि भारत के सिक्कों पर हिंदी और उर्दू को जगह दी जाय, उसी भारत-सरकार ने महाराज सप्तम एडवर्ड के सिक्कों पर जगह दे दी शुद्ध फारसी को; उस फारसी को, जिसे मुगल सरकार की अधीनता में कंपनी सरकार ने सन् १८३७ ई० में कचहरियों से देशनिकाला दे दिया था और उसकी जगह चालू कर दिया था देशी भाषाओं को!

एक दिन था कि मुगल सरकार की देखरेख में शाह आलम बादशाह के नाम पर कंपनी सरकार ने 'बनारस के मुलुक' के लिये एक पैसा चलाया, जिसपर हिंदी अक्षरों में 'एक पाई सीका' तो लिखा ही गया, साथ ही एक राजचिह्न 'त्रिशूल' भी बना दिया गया। इस प्रकार यह स्पष्ट कर दिया गया कि अभी देश में वह परंपरा बनी है, जो कट्टर गाजी बादशाह महमूद गजनवी के समय से चली थी। मुसलिम शासक हिंदी-भाषा और हिंदू-चिह्न के शत्रु नहीं, बल्कि प्रजा के नाते उनके भी पोषक थे। किंतु महारानी विक्टोरिया के निधन (१९०१ ई०) के उपरांत होता क्या है? चाँदी के सिक्कों पर फारसी आ धमकती है और फिर कभी हटने का नाम तक नहीं लेती। एडवर्ड और जार्ज सभी फारसी के भक्त दिखाई देते हैं। हाँ, एक बात अवश्य हो जाती है। पंचम जार्ज के शासनकाल में कुछ परिवर्तन दिखाई देता है। गीलट के सिक्कों तथा कागद के नोटों पर कुछ और ही लिपि-लीला झमक पडती है। उन पर देशी भाषाओं को अवश्य स्थान मिल जाता है, पर अंशतः फारसी भाषा भी उर्दू के रूप में बनी ही रह जाती है।

प्रसंगवश थोड़ा फारसी और उर्दू के संबंध पर विचार कर लेना चाहिए। इसमें तो तनिक भी संदेह नहीं कि दोनों की लिपियाँ एक ही हैं। और यदि अंतर है, तो थोडा-सा वर्णमाला का। हम इस अंतर पर यहाँ विचार करना उचित नहीं समझते। यहाँ तो इतना निवेदन कर देना पर्याप्त है कि

उर्दू में अलिफ मौजूद है, और औरंगजेब जैसे कट्टर गाजी बादशाह का यह आदेश[1] भी है कि मालवा और बंगाला को 'मालवः' और 'बंगाल' न लिखकर शुद्ध मालवा और बंगाला लिखा जाय। फिर भी हमारी मुल्की जबान के पीर उर्दू में आना को 'आनः' ही लिखते हैं और उसे ही बोलचाल की सनद समझते हैं। उर्दू की इस परदेसी प्रवृत्ति को देखकर भी जो लोग उसे देश की सची राष्ट्रभाषा समझते हैं, उनकी बुद्धि को क्या कहा जाय? उनके लिये तो किसी पक्के आश्रम की आवश्यकता है।

विचार करने की बात है कि एक ही शासनकाल में, एक ही शासक की भिन्न भिन्न मुद्राओं पर भिन्न भिन्न भाषाओं का रहस्य क्या है? क्यों चाँदी की चवन्नी पर लिखा मिलेगा 'चहार आनः', तो गीलट की चवन्नी पर लिखा मिलेगा 'चार आन.'? यानी चाँदी पर फारसी दिखाई देगी, तो गीलट पर उसकी लाडली उर्दू। गीलट की अठन्नी अब खोज की चीज हो गई है, नहीं तो उस पर भी आपको 'आठ आन.' दिखाई देता, पर

१—इसके सबंध में ध्यान रखने की बात यह है कि प्रयाग विश्व-विद्यालय के अरबी-अध्यक्ष श्री अब्दुल सत्तार सिद्दीकी भी इसी पक्ष के हैं कि 'अलिफ' की जगह 'हे' का प्रयोग नहीं होना चाहिए और फलत फारसी से अलग उर्दू की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार करना चाहिए। उर्दू का व्याकरण फारसी की छाया नहीं, उससे सर्वथा भिन्न है।

भाग्यवश चाँदी की अठन्नी आपके सामने है और फलतः आज भी आप उस पर 'हश्त आनः' देख सकते हैं। रही रुपए की बात। सो उसके विषय में नोट कीजिए कि उस पर फारसी में लिखा है 'यक रुपयः' न कि शुद्ध उर्दू में 'एक रुपयः'। इस 'यक' और 'एक' का भेद स्पष्ट हो जाता है गीलट की एकन्नी से, जिसपर स्पष्ट लिखा है 'एक', न कि फारसी की भाँति 'यक'।

पहले कहा जा चुका है कि भारत के सिक्कों पर हिंदी तथा उर्दू में मूल्य लिखने का प्रस्ताव आ गया था; पर नीतिवश उस पर अमल नहीं किया गया। महारानी विक्टोरिया के रुपयों पर केवल अँगरेजी का राज्य रहा। फारसी अथवा उर्दू को भी जगह न मिली। मिलती भी कैसे? उस समय तो सरकार वहाबियों से जली भुनी थी और मुसलमानों की भीतरी नीति से कुढ़ी भी थी। सर सैयद अहमद खाँ बहादुर जैसे धुरीण पैगंबरी पेशवाओं की दाल भी अभी अच्छी तरह नहीं गलती थी; किंतु उनकी कोशिशों से हिंदू भी सरकारी कोप के शिकार हो रहे थे और उनकी किताब (असबाब बगावत) हिंदुओं को दोषी ठहरा रही थी। नतीजा यह हुआ कि न तो रुपए पर 'ईरान के[1] शाह' की फारसी जबान आ सकी और न हिंद

१—उस समय दिल्ली में एक ऐसा दल भी था जो ईरान के बादशाह की सहायता से अँगरेजों को परास्त करना चाहता था। अँगरेज इसलिये भी मुसलमानों से उस समय चिढ़े हुए थे और सन् १८५७ ई० के 'गदर' का दोषी उसी दल को समझते थे।

की प्रजा की हिंदी-भाषा ही। हाँ, केवल अँगरेजी दृढ़ता के साथ जमी रही और भारत की पक्की राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई।

न-जाने महामना पं० मदनमोहन मालवीय को क्या सूझा कि 'मुई' हिंदी के लिये जी-जान से अड़ गए और अपने अथक परिश्रम से 'मसनूई' हिंदी को भी कचहरियों तथा दफ्तरों में जमा दिया। फिर तो यारों में वह हो-हल्ला मचा कि अंत में हमारी बहादुर सरकार को नए सम्राट् के सिक्कों पर उर्दू की कौन कहे फारसी को जगह देनी पड़ी। हिंदीवालों के लिये यही क्या कम था कि किसी तरह सरकार ने हिंदी को भी कुछ मान लिया! 'वसुधैव कुटुंबकम्' के लिये भला यह कब संभव था कि चाँदी के कुछ टुकड़ों की पीठ पाने के लिये किसी से मुठभेड़ करते? निदान हिंदी को हिंद के चाँदी के सिक्कों पर कहीं भी जगह नहीं मिली, और फारसी तथा अँगरेजी का बोलबाला हो गया। हाँ, उस फारसी का जिसका देश की प्रजा और राजा से अब कोई भी सीधा संबंध नहीं रह गया था।

आया। वह दिन भी आ गया कि अँगरेज बहादुरों को संकट के समय फिर हिंदुस्तानियों की याद आई। फिर तो हिंदुस्तानियों से जो जो वादे किए गए, वह तो कल की बात है। उनको दोहराने से कोई लाभ नहीं। कहना यह है कि गत महासमर की कृपा से भारत के सिक्कों पर सचमुच देशभाषाओं को स्थान मिला। गीलट के सिक्कों पर जगह की कमी

के कारण हिंदी, बँगला और तामिल को जगह मिली, तो कागद के नोटों पर विस्तार के कारण कुछ और अन्य देशभाषाओं को भी। और अब फारसी ने भी उर्दू का रूप धारण कर लिया। सब कुछ हुआ; किंतु चाँदी के सिक्कों पर किसी भी देशभाषा को अभी तक स्थान नहीं मिला। आज भी दो विदेशी भाषाएँ उन पर जमकर हमारा तथा हमारे राष्ट्र का जी खोलकर उपहास कर रही हैं। देखिए न हमारी 'शुद्ध बेहयाई'। लज्जा से हमारा मस्तक नीचा नहीं होता; उलटे हम किस तपाक और तुर्रे से कह बैठते हैं कि रुपए पर हमारी मुल्की जबान उर्दू है! धन्य हैं हम और सचमुच धन्य है हमारी मुल्की जबान उर्दू, जिसे इतनी भी तमीज नहीं कि अपने असली रूप को पहचान सके और उसी तरह अपने मुल्क का सच्चा अभिमान करे, जिस तरह कि फारसी आज अपने मुल्क का कर रही है। रही हिंदी की बात। सो उसकी तो स्पष्ट घोषणा है कि उसकी उपेक्षा कर सरकार उस विष-बीज की खेती कर रही है, जो ठीक उसी के लिये घातक है। हिंदी किसी के मिटाने से मिट नहीं सकती। वह तो और भी अमिट होकर जीना चाहती है। किसी के रक्त से नहीं, अपनी शक्ति से

एक लांछन का रहस्य

क्या कभी वह दिन भी आयगा कि हमारे देश के नेता अच्छी तरह समझ लेंगे कि हिंदी-उर्दू-विवाद का प्रधान कारण मजहब नहीं, बल्कि 'इम्तयाज' है? 'इम्तयाज' के लिये ही फारसी की जगह उर्दू ईजाद हुई और वह उसी तरह हिंदी के विरोध में लीन रही जैसी कि कभी फारसी थी। फारसी के उठ जाने पर उर्दू किस प्रकार कचहरियों और दफ्तरों में चालू कर दी गई, इसका विचार अन्यत्र[1] किया गया है। यहाँ इतना जान लीजिए कि कचहरी की विलक्षण भाषा तथा विलायती लिपि से व्यथित होकर ही हिंदियों ने यह प्रयत्न किया था कि कचहरियों और दफ्तरों में हिंदी भाषा तथा नागरी लिपि को फिर स्थान दिया जाय और यदि उचित समझा जाय तो फारसी-हिंदी भाषा यानी उर्दू, और फारसी लिपि को भी रहने दिया जाय। हिंदियों का प्रबल आग्रह यह था कि नागरी लिपि को भी अवश्य अपनाया जाय। राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद तो जी-जान से नागरी लिपि के लिये ही लगे थे और कहते थे कि बिना नागरी लिपि के प्रचार के वस्तुतः

१—देखिए 'कचहरी की भाषा और लिपि'। ना० प्र० सभा, काशी, सं० १९९६ वि०।

शिक्षा का प्रचार[1] असंभव है। फिर भी सर सैयद अहमद खाँ को उनकी यह बात खली और उन्होंने जान बूझ कर लिपि के प्रश्न को भाषा का ही नहीं बल्कि हिंदू-मुसलिम अथवा मजहब का प्रश्न बना दिया और देश में उस वैमनस्य का बीज बोया, जो आज हिंदी-उर्दू के विवाद के रूप में लहलहा रहा है और उनके हमजोलियों के प्रयत्न से प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है।

अच्छा तनिक ध्यान से सुनिए, सर सैयद अहमद खाँ बहादुर लंदन से क्या पट्टी पढ़ाते हैं—

"एक और मुझे खबर मिली है जिसका मुझको कमाल रंज और फिक्र है कि बाबू शिवप्रसाद साहब की तहरीक से अमूमन् हिंदू लोगों के दिल में जोश आया है कि ज़बान उर्दू व खत फारसी को, जो मुसलमानों की निशानी है, मिटा दिया जाय।"[2]

१—अरबी लिपि की दुरूहता के विषय में एक मर्मज्ञ का कहना है कि उसके कारण ज्ञानप्रसार में बड़ी बाधा उपस्थित होती है। अरबी लिपि की संक्षिप्त व्याख्या यह है—

"The Arabic character, beautiful to look at, is an enemy to printing and an enemy to the diffusion of knowledge."

(Higher Persian Grammar, D. C. Phillott. Calcutta University, Baptist Mission Press 1919 p 3 note).

२—ख़तूते सर सैयद, सैयद रास मसूद, निज़ामी प्रेस, बदायूँ, सन् १९२४ ई० पृ० ८८।

याद रहे, सर सैयद साहब की दृष्टि में उर्दू अभी यानी सन् १८७० ई० में 'मुसलमानों की निशानी' है, कुछ 'हिंदू-मुसलिम मेल' की गवाही नहीं! इसके कुछ पहले यानी सन् १८४७ ई० में उर्दू 'बादशाही अमीर उमरा' की बोली थी। "गोया कि हिंदुस्तान के मुसलमानों की यही जबान थी।"[१] पर बाद में कूटनीति के कारण वह 'हिंदू-मुसलिम मेल' की निशानी ठहराई गई। जो हो, यहाँ हमें स्पष्ट निवेदन कर देना है कि राजा शिवप्रसाद न तो उर्दू जबान के विरोधी थे, और न फारसी लिपि के शत्रु। हाँ, उनकी दृष्टि में उसी हिंदुस्तानी भाषा तथा उसी नागरी लिपि का महत्त्व था, जिसको कंपनी सरकार ने लोक भाषा तथा लोक-लिपि के रूप में उस समय अपना लिया था जब शाही या सरकारी जबान उर्दू नहीं, बल्कि फारसी थी। 'बादशाही अमीर उमरा' गुलाम नहीं, बल्कि आजाद थे। फारसी को अपनी प्यारी जबान समझते थे और हिंदी होने के नाते कुछ दरबार की बोलचाल यानी उर्दू को भी मुँह लगा लेते थे। अँगरेज भी शाही सरकार के अधीन होने के कारण फारसी सीखने के लिये उसी का अभ्यास करते थे और डाक्टर गिलक्रिस्ट भी उन्हीं को सिखाने के लिये मुंशी रखते थे, जो अधिकतर उस भाषा में पोथी लिखते थे, जिसके सहारे फारसी जल्द समझ में आ जाय। अस्तु, राजा शिवप्रसाद उर्दू भाषा

१—देखिए इसी पुस्तक का पृ० २४–२५।

तथा फारसी लिपि के साथ उस भाषा तथा उस लिपि को भी चालू देखना चाहते थे जो यहाँ की मुख्य भाषा और मुख्य लिपि थी। उनका एकमात्र अपराध यही था कि उन्हें नागरी *लिपि अपने सहज गुणों के कारण विशेष भाती थी और उनको* उस भाषा का प्रचार अभीष्ट था जिसे हम-आप हिंदुस्तानी कहते हैं; पर उर्दू के लोग उसे भी हिंदी या भाषा ही मानते हैं। क्यों? कारण प्रत्यक्ष है। उसमें मुसलमानों की निशानी तो है पर वह निशानी नहीं, जिसे 'शान' कहते हैं। उसमें फारसी-अरबी के शब्द तो हैं पर उसमें वह रंग नहीं, जो उर्दू की खास बपौती है। इसलिये वह 'हिंदुस्तानी' नहीं; क्योंकि हिंदुस्तान उर्दू की कैद में है, कुछ देश की जनता के अधीन नहीं।

अच्छा, तो राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' का कहना है—

"हमने, जहाँ तक बन पड़ा, बैतालपचीसी की चाल पर रखा, और इसमें यह लाभ देखा, कि पारसी शब्दों के जानने से लडकों की बोलचाल सुधर जायगी, और उर्दू भी जो अब इस देश की मुख्य भाषा है, सीखनी सुगम पडेगी।"[१]

ध्यान देने की बात है कि सन् १८५४ ई० में 'पारसी शब्दों' का प्रयोग इस दृष्टि से किया जा रहा है कि उससे 'लड़कों की बोलचाल सुधर जायगी, और उर्दू ...सीखनी सुगम पडेगी,' कुछ

१—भूगोल हस्तामलक, संस्कृत प्रेस, कलकत्ता, सन् १८५४ ई० उपोद्घात पृ० २।)

इसलिये नहीं कि वह 'आमफ़हम' है, बल्कि इसलिये कि वह 'ख़ास पसंद' है। सब की नहीं, कुछ लोगों की भावती है। पर राजा साहब को इसका क्या पता था कि स्वयं बैतालपचीसी की भाषा अरबी फ़ारसी से बोमल[1] हो गई थी और फिर भी भाषापन के कारण यारों में भोंडी तथा निकम्मी मानी जाती थी।

अस्तु, राजा साहब कुछ और आगे बढ़े और सन् १८७९ ई० में लिखा—

"इसमें शक नहीं कि अफ़ग़ानी, ईरानी, तूरानी मुसलमान भी जब हिंदी बोलना चाहते थे, नाचार बहुत से फ़ारसी अरबी अल्फ़ाज़ उसमें बोला करते थे; फ़र्क़ इतना अलबत्तः रहता था कि ये उनका तलफ़्फ़ुज़, जैसा अब भी ज़ाहिर दिखलाई देता है, सहीह करते थे और यहाँवाले ग़लत और कुछ का कुछ बना कर। इसी तरह अँगरेज़ लोग अँगरेज़ी अल्फ़ाज़ का तलफ़्फ़ुज़ हमेशः सहीह ही करते हैं मगर यहाँवाले ग़लत तलफ़्फ़ुज़ करके उन्हें कुछ का कुछ बना लेते हैं। पस उर्दू यानी हाल की हिंदी या हिंदुस्तानी की जड़ हम ही लोग हैं। अगर ये सब परदेसी हमारे इस ज़माने की बोली की जड़ होते तो उसमें हमको फ़ारसी, अरबी, अँगरेज़ी के लफ़्ज़ों के बदले अपने देसी अल्फ़ाज़[2] ग़लत

१—देखिए, कचहरी की भाषा और लिपि, वही, पृ० ४७-४८।

२—उर्दू में देशी शब्दों का उच्चारण ठीक नहीं होता, अरबी-

और कुछ के कुछ, जैसा उन्हें वे परदेमी तलफ़्फ़ुज़ करते हैं, मिलते। ग़रज़ मौलवी और पंडित दोनों की यह बड़ी भूल है कि एक तो सिवाय फ़ेल और हरफ़ों के बाक़ी सब अल्फ़ाज़ सहीह फारसी अरबी के काम में लाना चाहते हैं और दूसरे सहीह पाणिनि की टकसाल के खुरखुरे संस्कृत। गोया यह जो हज़ारों बरस से हम ही लोग हज़ारों हालतों के बाइस हज़ारों तबद्दुल व तग़ैयुर अपनी ज़बान में करते चले आए हैं वह उनके रत्ती भर भी लिहाज़ के लायक़ नहीं, बल्कि इस तबयो और लाबदी क़ानून और क़ाइदे की उनके आगे कुछ गिनती ही नहीं। सख़्त मुश्किल संस्कृत लफ़्ज़ जो हज़ारों बरस दाँत, होंठ, जीभ से टकराते टकराते गोलमटोल पहाडी नदी की बटिया बन गए हैं, पंडितजी फिर उन्हें वैसे ही खुरदुरे सिंघाडे की तरह नुकीले पत्थर बनाना चाहते हैं जैसे वे नदी में पड़ने से पहले पहाड़ से टूटते वक़्त रहते हैं, और मौलवी साहब इतने ऐन क़ाफ़ काम में लाना चाहते हैं कि बेचारे लड़के बलबलाते बलबलाते ऊँट ही बन जाते हैं। लेकिन तमाशा यह है कि इधर तो मौलवी साहब या पंडितजी एक लफ़्ज़ सहीह करते हैं या परदेसी होने के क़सूर में उसे कालेपानी

फारसी के शब्द शुद्ध अवश्य लिखे जाते हैं। हिंदी के शब्दों को अरबी-फारसी रूप देना उर्दू के परदेशीपन का पक्का प्रमाण है।

जाने का हुक्म देते हैं और उधर तब तक लोग मौ ल.फ़्ज़ों के बदल कर कुछ का कुछ बना डालते हैं या परदेसियों को घर में घुसाकर अपना मुतबन्ना लड़का बना लेते हैं। हिंदी ज़बान को फ़ारसी, अरबी, तुर्की और अँगरेज़ी ल.फ़्ज़ों से खाली करने की कोशिश वैसी ही है जैसे कोई अँगरेज़ी को यूनानी, रूमी, एलमानी व.ग़ैरह परदेसी ल.फ़्ज़ों से खाली करना चाहे या जिस तरह यह हज़ार बरस पहले बोली जाती थी उसके अब बोले जाने की तदबीर करे। अँगरेज़ी के बराबर किसी दूसरी ज़बान में परदेसी ल.फ़्ज़ नहीं हैं लेकिन वहाँ के .उलमा फ़ुज़ला .खूब जानते हैं कि ज़बान किसी के बनाने से हरगिज़ नहीं बन सकती है। तबयी और लाबदी क़ानून और क़ाअदे के मुताबिक हाट-बाज़ार और सरकार-दरबार में जो बोली जाती है वही माननी पड़ती है। फारसी बोली का भी हाल अँगरेज़ी का-सा है, मगर ऐसी अजीब अ.क्लवाला कोई नहीं जो उसको .अरबी और तुर्की लफ़्ज़ों से खाली करना चाहे या फ़ारसी में जैसी ज़बान कैखुसरो और कसरा के अहद में बोली जाती थी उसके बोले जाने की स.यी करे। पस जब यह बात पो ख़्तः ठहरी कि हमारी ज़बान में संस्कृत और अरबी-फ़ारसी के चाहे सहीह चाहे ग़लत बहुत से लफ़्ज़ मिले हैं और अब उनसे छुटकारा भी मुमकिन नहीं है बल्कि वह हमारी ज़बान के एक जुज़ व आज़म बन गए हैं जैसा कि अगले शाइर लोग बराबर कहते चले आए हैं—

श्लोक संस्कृत

संस्कृत प्राकृतं चैव शौरसेनीं च मागधीम् ।
पारसीकमपभ्रंशं, भाषायाः लक्षणानि षट् ॥

दोहा भाखा

अंतरबेदी नागरी गौड़ी पारस देस ।
अरु अरबी जामें मिलैं, मिश्रित भाखा वेस ॥
ब्रजभाखा भाखा रुचिर, कहै सुमति सब कोय ।
मिलै संस्कृत पारस्यो, अतिसय सुगम जु होय ॥

"तो जो कुछ थोड़ा-सा संस्कृत और अरबी का जो फ़ारसी, तुर्की, अँगरेज़ी व ग़ैरह के मुक़ाबिले में निहायत क़दीम असली और खालिस ज़बान गिनी जाती हैं, लफ़्ज़ों की तरकीब का क़ाअदः जहाँ तक हमको उसका अपनी बोलचाल में काम पड़ता है लिखना ज़रूरी हुआ। ज्यादह उन दोनों ज़बानों की सफ़ व नह्वो पढ़ने से मालूम हो सकेगा। कौन ऐसे पंडित हैं कि अरबी लफ़्ज़ों को जो रात-दिन ज़बान पर रहते हैं और जिनको ब ग़ैर बोले कभी नहीं रह सकते, हक़ीक़त और माहियत जानने की ख़्वाहिश न करें ? इंतक़ाल का माद्दह नक़्ल न जानकर उसे अन्तकाल का मुअर्रब और मख़दूम को खिदमत का मफ़ऊल न समझकर उसे मुरुदुम का मुरक्कब बतलावें और एक पंजाबी ब्राह्मण देवता की तरह जो मतलब को मतबल तल पफ़ुच करता था और उसके माने मनबल यानी अक़्ल का जोर बतलाता था, हँसे जावें ? या कौन ऐसे मौलवी हैं जो दावा हमदानी का

रखें और यह न जानना चाहे कि फूटना, फोड़ना, फाटना, फटकना, फड़कना, फड़फड़ाना, फाट, फाड़, फुट, फुटकर, फाटक, फाटकी, फोड़ा, फिटकिरी, सबका एक ही मसदर संस्कृत में स्फुट है और फ़ारसी लफ़्ज़ दुख्तर अँगरेजी दातर, दुहित्री की, जो दूहने के माने में संस्कृत मसदर दुह से निकला है, ख़राबी है? इस तरह के पंडित और मौलवी उसी क़िस्म के आदमियों में गिने जायँगे जो हर तरह की मिठाई और खाने खाते चले जावें और ज़रा भी न सोचें कि यह किन चीज़ों से किस तरह पर बने हैं और इंसान की सेहत और तंदुरुस्ती पर बुरा भला, कैसा असर रखते हैं।"[१]

देखा आपने, राजा साहब की भाषा नीति क्या है? किस [प्र]कार वे ठीक उसी भाषा का प्रबल समर्थन कर रहे हैं, जिसे [आ]ज लोग प्रमादवश हिंदुस्तानी की एक नई ईजाद समझते [हैं]। पर इस हिंदुस्तानी पर आज अधिक जोर क्यों दिया जा [र]हा है? क्यों हिंदी नाम से लोग खार खाए बैठे हैं? क्यों [स]र सैयद साहब-सा धुरीण व्यक्ति राजा साहब पर यह लांछन [ल]गाने में तनिक भी संकोच नहीं करता कि वे 'मुसलमानों की [नि]शानी' यानी उर्दू को मिटाना चाहते हैं? और क्यों मौलाना [ह]ाली-सा उदार सज्जन उनकी जीवनी यानी 'हयात जावेद' में [ड]ाके से कह बैठता है—

१—उर्दू सर्फ़ व नह्व, नवलकिशोर प्रेस कानपुर, सन् १८७५ ई०, ११६–१२५।

"उर्दू ज़बान जो दरहक़ीक़त हिंदी भाषा की एक तरक़्क़ीयाफ़्ता सूरत है और जिसमें अरबी व फ़ारसी के सिर्फ़ किसी क़दर अस्मा उससे ज़्यादा शामिल नहीं हैं कि जितना कि आटे में नमक[1] होता है, उसको हमारे हमवतन भाइयों ने सिर्फ़ इस

१—मौलाना हाली का यह 'नमक' बड़े मार्के का है। यह नमक सन् १८६८ ई० के बाद का है। नागरी के परम विरोधी सर सैयद अहमद ख़ाँ बहादुर अब इस दुनिया में नहीं रहे और महामना मालवीयजी के प्रयत्न से नागरी को कचहरियों में जगह मिल गई। अब उर्दू की कपटलीला जगी और यह नमक की बात सामने आई। दूर की बात जाने दीजिए। इन्हीं मौलाना हाली की गवाही लीजिए। सन् १८६३ ई० में इन्हीं हज़रत ने अपने दीवान के मोक़द्दमे में स्पष्ट लिखा था—

"नीज़ उर्दू ज़बान में बहुत बड़ा हिस्सा अस्मा का अरबी और फ़ारसी से माख़ूज़ है।"

यह तो हुई उर्दू की बात। कचहरी की उर्दू का कहना ही क्या ? वहाँ तो अरबी फ़ारसी का राज्य ही है। फिर भी हाली हिंदुस्तानी प्रेमी राष्ट्रभक्त मुसलमान हैं और राजा शिवप्रसाद परम द्वेषी, राष्ट्रशत्रु हिंदू। इसी हिंदुस्तानी-प्रेम, अथवा सैयदी लोगों की दृष्टि में, द्वेष के कारण उनके विषय में यह प्रसिद्ध किया गया कि

"लेकिन बाबू साहब में मज़हबी तास्सुब बहुत था। वह चाहते थे कि कुल मुसलमानों की एक गरदन हो और मैं उसको एक

बिना पर मिटाना चाहा कि उसकी तरक्की की बुनियाद मुसलमानों के अहद में पड़ी थी।

"चुनांचे सन् १८६७ ई० में बनारस के बाज़ सरबरआवरदह हिंदुओं को यह ख़याल पैदा हुआ कि जहाँ तक मुमकिन हो, तमाम सरकारी अदालतों में से उर्दू ज़बान और फ़ारसी ख़त के मौकूफ़ कराने में कोशिश की जाय और बजाय उसके भाषा ज़बान जारी हो जो देवनागरी में लिखी जाय।"[1]

नागरी के विषय में हम अन्यत्र दिखा चुके हैं कि वास्तव में कंपनी सरकार ने उसी को अपनाया था, पर आगे चलकर प्रमाद अथवा कूटनीति के कारण फ़ारसी भाषा के साथ उसे भी निकाल दिया और सीधी सादी प्रजा के ऊपर एक ऐसी बेतुकी भाषा का बोझ एक ऐसी विलायती लिपि में लाद दिया, जिसकी कोई बात उसकी समझ में न आए और वह एक गदहे की तरह चुपचाप उसे ढोती रहे। अतएव राजा शिवप्रसाद का एकमात्र अपराध यही था कि वह निरीह जनता को गदहे के रूप में नहीं देख सकते थे, बल्कि नागरी के द्वारा उन्हें नागर बनाकर अपने पैरों पर खड़ा होना सिखाना चाहते थे, केवल भाड़े का टट्टू

झटक में उड़ा दूँ।" देखिए हयातुल नज़ीर, शम्सी प्रेस, देहली, सन् १६११ ई०, पृ० ५७।

१—हयात जावेद, प्रथम संस्करण, प्रथम भाग, सन् १६०१ ई०, पृ० १३६-४०।

बनाना कदापि नहीं। रही 'आटे में नमक' की बात, सो हम कह नहीं सकते कि मैालाना हाली तथा उनके कैंडे के लोग आटे में कितना नमक खाते हैं, पर इतना जानते अवश्य हैं कि हिंदी ने कभी भी फारसी अरबी के शब्दों को देशनिकाला नहीं दिया, बल्कि वह बराबर उन्हें अपनाती ही रही। हाँ, उर्दू ने अलबत्ता हिंदी के प्यारे और घरेलू प्रतिदिन के बोलचाल के शब्दों तक को कान पकड कर देश के बाहर खदेड दिया और देखते ही देखते वह हिंदी से पक्की अहिंदी अथवा अरबी-फारसी बन गई। औरों की बात जाने दीजिए, स्वय आपके पेशवा सर सैयद ने ही अपने मुँह से कभी कहा था—

"अगर च इस जबान में फ़ारसी और अरबी और सस्कृत के अल्फाज़ मुस्तामल हैं और बाज बाजों ने कुछ तग़ैयुर व तबद्दुल कर ली है, लेकिन इस जमाने में और शहर के लोगों ने यह तरीक़ा एख्तयार किया है कि उर्दू जबान मे या तो फारसी की लुगत बहुत मिला देते हैं और या फ़ारसी की तरकीब पर लिखने लगते हैं।"[१]

अब आप ही कहे, यह 'आटे मे नमक' है या कुछ और ही? राजा शिवप्रसाद साहब का कहना तो यह है—

"एक दिन था कि नवाब सआदत अली खाँ के मुशी इशा

१—असारुस्सनादीद, सन् १८४७ ई०, बाब चौथा ज़बान का बयान।

.अल्लाह खाँ ने कहानी बनाई। एक लफ्ज भी उसमें अरबी-फ़ारसी का आने न पाया। अब वह दिन है कि लखनऊवालों की तहरीर से अगर चंद .फ़ेल और हुरूफ हिंदी के निकालकर फ़ारसी के लिख दो मवहे के म.फ़हे उर्दू से पारसी बन जायें।"[१]

और कचहरी की भाषा? उसकी न पूछिए। वह तो आज भी न जाने किस देश की भाषा है। चाहे तो उसे अरबी-फ़ारसी की हिंदुस्तानी कह लो, पर वह हिंदी की हिंदुस्तानी या उर्दू की उर्दू कदापि नहीं, कहीं और की उर्दू भले ही हो।

रही हिंदी की बात, उसके विषय में राजा साहब का मत है—

"अब जिस बोली में फ़ारसी अरबी के शब्द कम रहते हैं, और हिंदी हर्फों मे लिखी जाती है, उसे हिंदी, और जिसमें फारसी अरबी के शब्द अधिक रहते हैं, और फ़ारसी हर्फों में लिखी जाती है, उसे उर्दू कहते है।"[२]

पर उर्दू के लोग न जाने किस आधार पर इतने दिनों से बरो रहे हैं कि हिंदी 'मुसलमानों की निशानी' को मिटा रही है। आखिर बात क्या है? उत्तर के लिये दूर जाने की जरूरत नहीं। आप उर्दू के गत १०० वर्ष के इतिहास पर ध्यान दें और सर सैयद अहमद खाँ बहादुर की बातों पर जमकर विचार करें,

---

१—उर्दू सर्फ़ थ नह्वो वही, पृ० ४।

२—भूगोल हस्तामलक, वही पृ० ६४-५

फिर आपको अपने आप ही दिखाई देगा कि आखिर मामला क्या है। क्यों हिंदी का विरोध जी-जान से किया जा रहा है और क्यों भारत की भोली भाली प्रजा को राष्ट्र के उद्धार के भुलावे में डालकर अरबी बनाया जा रहा है? कुछ इसलिये नहीं कि यह दीन की सची प्रेरणा या देश के उद्धार की भीतरी पुकार है, बल्कि सिर्फ इसलिये कि इसमें 'शाही शान' और बाहरी गुमान का बोलबाला है। अरे, हिंदी गुलामों की जबान है, और उर्दू शाही मुसलमानों की शान। उर्दू के होते हुए उन्हें कोई हिंदी या गुलाम देश का आदमी नहीं कह सकता। फिर हिंदुस्तानी की चर्चा क्यों? बात यह है कि विदेशी प्रभुओं ने हमारी सची राष्ट्र-भावना को कुंठित करने के लिये हमारी राष्ट्रभाषा हिंदी को पहले हिंदुस्तानी कहा, और फिर सिद्ध यह किया कि हिंदवी हिंदुओं की भाषा है, और हिंदुस्तानी बोलचाल की। फिर क्या था, निष्पक्ष लोग हिंदुस्तानी पर लट्टू हो गए और बिना समझे बूझे उसकी परिक्रमा में लीन हुए। उधर धीरे धीरे हिंदुस्तानी उर्दू की ओट में आगे बढ़ी और साहब बहादुर लोग उसी पर फिदा हो उसी को हिंदुस्तानी कहने लगे। आज जो उर्दू हिंदुस्तानी के लिये सती हो रही है, उसका यही रहस्य है। पर दुर्भाग्यवश हमारे राष्ट्रप्रेमी नेताओं की समझ में यह बात नहीं आ रही है, फलतः आज 'हिंदुस्तानी' के विधाता वे बनाए जा रहे हैं, जो हमारी नित्य की बोल-चाल की भाषा को 'राक्षसों या

जिन्नात की ज़बान' कहते हैं और यह कहने में तनिक भी नहीं झिझकते कि 'उर्दू संस्कृत की तरह कहीं बाहर से नहीं आई'। अच्छा, समय का फेर और बदगुमानी का राज्य है, किसी तरह इसे भी खे ले चलें। पर कृपया भूल न जायँ कि बिना अपने मरे स्वर्ग नहीं दिखाई देता और अपना उद्धार अपने आप ही किया जाता है। हाँ, उपाय तो है, पर निष्ठा नहीं।

सिरफिरों की सच्ची सूझ

सिर चढे लोगों को आसमान पर चढ़ाने का दुष्परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रहृदय फटकर दो टूक हो गया और भाषा के प्रश्न ने उसे और भी गहरा बना दिया। पर सच पूछिए तो यह राष्ट्र के मंगल के लिये ही हुआ। नहीं तो व्यर्थ मे कौन इस फेर में पडता कि हमारे परदेशी बधु कितने दिनों से देश की भाषा को चरते और एक अजीब बोली का सृजन करते आ रहे हैं। दूर की बात जाने दीजिए। अभी उस दिन 'रेडियो' पर भाषण करते समय 'वर्धास्कीम' के विधाता डाक्टर जाकिर हुसैन साहब ने बडे दिमाग से फरमाया था—

"साफ साफ क्यों न कहूँ, जो लोग हिंदुस्तानी जबान से अर्बी-फारसी के बोल चुन चुनकर निकालना चाहते हैं वह समझते हैं कि हिंदू मुसलमानों के सदियों के मेलजोल से जो चीजें बनी हैं वह पाक नहीं हैं, उनमे से परदेसी मैल-कुचैल निकाल बाहर करना चाहिए। शायद वह जानते नहीं कि यह मैल-कुचैल हमारी जिंदगी के रोंगटे रोंगटे मे भिद गया है। उन्हे उर्दू ही में से अरबी लफ्ज निकालने न होंगे, तुलसीदास, सूरदास और कबीर की जबान को भी शुद्ध करना होगा। यह ऐसी ही कोशिश होगी जैसे कोई सरफिरा गगा-जमना के सगम पर खडा होकर उन्हें एक दूसरे स अलग करना चाहे। और यह

कोशिश यहीं रुकेगी क्यों ? फिर हर छोटी टोली का देस भी अलग होगा, जबान भी अलग अलग होगी, राजधानी भी अलग अलग। हमारी तारीख के कोल्हू का बैल जहाँ से चला था फिर वहीं पहुँच जायगा। हो सकता है कि करनेवाले यह भी कर डालें, दूसरे को चिढ़ाने के लिये कहीं कहीं अपनी नाक काट लेने का हाल भी सुना है। और दीवानगी में तो लोग आप अपने गले पर छुरी फेर लेते हैं। मगर जिसे हिंदुस्तान के बसनेवालों की समझ पर जरा भी भरोसा होगा वह यह नहीं मान सकता कि एक कौम की क़ौम, ऐसी दीवानी हो जायगी।"[१]

खुलकर इतना हम भी कहे देते हैं कि हमें तनिक भी 'भरोसा' नहीं होता कि 'हिंदुस्तान के बसनेवाले' नहीं बल्कि सचमुच जीजान से हिंदुस्तानी परदेशी 'दीवानों' को पढ़कर कभी इतने दीवाने हो जायँगे कि अपनों का मुँह चिढ़ाने के लिये अपनी नाक कटा लेंगे और उस भाषा के गले पर छुरी फेर लेंगे जिसकी रचना उनके बापदादों के खून से हुई है। सुनिए न, मलिक मुहम्मद जायसी कितने दीन भाव से क्या कहते हैं—

१—हिंदुस्तानी, मर्कज़ी जामिआ, देहली, सन् १६३६ ई०,

"मुहमद कवि यह जोरि सुनावा। सुना सो पीर प्रेम कर पावा॥
जोरी लाइ रक्त कै लेई। गाढ़ि प्रीति नयनन्ह जल भेई॥
औ मैं जानि गीत अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा॥
केइ न जगत जस बेंचा, केइ न लीन्ह जस मोल।
जो यह पढ़ै कहानी, हम्ह सँवरै दुइ बोल॥"[१]

क्या आपने कभी किसी भी उर्दू के मकतब या पाठ्यक्रम में मलिक मुहम्मद जायसी की रचना की कोई भी पंक्ति पढ़ी है? क्या आपको इस बात का पता है कि हिंदी का कोई भी विद्यार्थी 'जायसी' से अनभिज्ञ नहीं है? फिर देखिए दीवानों की दीवानगी कहाँ फल फूल रही है। हिंदी में या उर्दू में? फिर भी 'दूध की धुली' उर्दू के बारे में नामधारी डाक्टर जाकिर-हुसैन खाँ का मत निराला है और हिंदी पर चोट करते हुए दीवानपरस्तों की भाँति कहते हैं—

"मैं आपको सचमुच बताऊँ कि जबान को शुद्ध बनाने की इस कोशिश ने ही हिंदी-उर्दू का झगडा छेड़ा है। नहीं तो पहले लोग उर्दू हिंदी का फर्क़ भी न जानते थे। उर्दू के अच्छे अच्छे लिखनेवालों ने अपनी ज़बान को हिंदी बताया है। वह तो जब से इस मिली-जुली ज़बान में से अरबी-फारसी के ल.फ्ज़ों को निकाल निकाल कर संस्कृत ल.फ्ज़ लिखे जाने लगे तो

१—जायसी-ग्रंथावली, रामचद्र शुक्ल, द्वि० सस्करण, ना० प्र० सभा, काशी, सन् १९३५ ई०, पृ० ३४१-४२।

दो अलग अलग ज़बानें बनने लगीं। हिंदीवाले शुद्ध हिंदी लिखने लगे, उर्दूवाले अरबी फारसी के बेजोड़ लफ्ज़ भी ज़बान में लाने लगे। मगर उर्दूवाले पूरा पूरा जवाब देते तो कैसे देते। वह दो दिन की लड़ाई में अपना सदियों का काम कैसे मिटा दें। उन्होंने अपनी ज़बान के लिये हिंदुस्तानी ढाँचा अपनाया है, हिंदुस्तानी ग्रामर पर चलते हैं, लफ्ज़ों का देस और नस्ल और मज़हब देखकर उनसे घिनियाना उन्हें नहीं आता।"[1]

डाक्टर साहब के 'उर्दूवाले' किस लोक के प्राणी हैं, यह हम ठीक ठीक नहीं कह सकते। क्योंकि जिन उर्दूवालों को हम रात-दिन चलते-फिरते, उठते-बैठते, आते-जाते देखते रहते अथवा किताबों में पढ़ा करते हैं वे तो जाकिरी उर्दूवालों से तनिक भी मेल नहीं खाते। ऐसी स्थिति में हमारा कोई वश नहीं। हम जाकिरी उर्दूवालों के स्वागत के लिये अभी से आँखें बिछाए देते हैं पर साथ ही उन उर्दूवालों की भी कुछ खबर ले लेना चाहते हैं जो कहीं उन्हीं के टिकट पर धमककर हमारी आँखों का चौपट न कर दें। इसलिये हम जनाब डाक्टर *जाकिरहुसैन खाँ साहब से निहायत अदब के साथ अर्ज करते हैं* कि भगवन्! आपके इसी विजित देश में कुछ ऐसे सिरफिरे

१– हिंदुस्तानी, मकतबा जामिआ, देहली, सन् १९३९ ई०, पृ० ४३।

लोग भी हो गए हैं जिनके कारण आपके परम प्रशंसित उर्दूपरस्त, दिली दोस्त, डाक्टर मौलवी अब्दुल हक साहब को भी कहना ही पड़ा कि—

"अल्फ़ाज़ के साथ ख़यालात भी दाख़िल हो गए और क़सीदे, मसनवी, रुबाई और ग़ज़ल में वही शान आ गई जो फ़ारसी में पाई जाती है। लेकिन सबसे बड़ा इनक़लाब जिसने उर्दू हिंदी में इम्तयाज़ पैदा कर दिया, वह यह था .उरूज़ में भी फ़ारसी ही की तक़लीद की गई है और बग़ैर किसी तग़ैयुर व तबद्दुल के उसे उर्दू में ले लिया। फ़ारसी ने उसे .अरबी से लिया था, उर्दू को फ़ारसी से मिला। अगर उर्दू (रेख़तः) की अदबी नशोनुमा दकन में हासिल नहीं हुई होती तो बहुत मुमकिन था कि बजाय फ़ारसी .उरूज़ के हिंदी उरूज़ (पिंगल) होता। क्योंकि दुआब गंग व जमुन में आस पास हर तरफ़ हिंदी थी और मुल्क की आम ज़बान थी। बख़िलाफ़ इसके दकन में सिवाय फ़ारसी के कोई इसका आशना न था। और यही वजह हुई कि फ़ारसी उस पर छा गई। वरनः यह जो थोड़ा सा इम्तयाज़ उर्दू हिंदी में पाया जाता है वह भी न रहता। और ग़ालिबन् यह उर्दू के हक़ में बहुत बेहतर होता।"[1]

अचरज की बात तो यह है कि फिर भी आज उर्दू उसी 'दकन' यानी हैदराबाद में उगाई जा रही है और हिंदू-मुसलिम-

१—उर्दू, अंजुमने तरक्क़ीए उर्दू, वही, जनवरी सन् १६२२ ई०, पृ० १७।

एकता एवं राष्ट्र के उद्धार के लिये अरबी की भरमार कर रही है। उर्दू में अरबी की बाढ क्यों और किस ओर से आई इसे भी एक हैदराबादी प्रोफेसर के मुँह से सुन लीजिए—

"मालूम होता है कि अबुलकलाम (आजाद) की मखसूस जेहनियत ने सर सैयद की इसलाही कोशिशों के लिये रद्द अमल का काम किया। उनका और उनके मुक़ल्लेदीन का गालिबन् यह अकीदह है कि उर्दू जबान में मजहबे इसलाम की जुमल इस्तलाहात और उसके मुताल्लिक अरबी व फारसी लफ्जों को बिल्कुल बेतकल्लुफी से इस्तैमाल करते रहना चाहिए, ताकि मुसलमान उनसे हर वक्त दो चार होते रहें और इस तरह उनके मजहबी मोतक़दात मौका व बैक़ा ताजह हुआ करें।"[1]

राष्ट्रपति मौलाना अबुलकलाम आजाद हिंदी के लिये और भी कड़े निकले। उन्होंने उर्दू का मुँह फारसी की ओर से अरबी की ओर मोड दिया यानी उसे आर्य भाषा के घर से निकालकर शामी भाषा के घर में डाल दिया। किंतु उनका यह अपराध क्षम्य है, क्योंकि अरबी उनकी जन्मभाषा भी रही है। बात प्रसंग के बाहर की आ गई। उसे यहीं छोड़

१—उर्दू के असालीब बयान, सैयद गुलाम मुहीउद्दीन क़ादिरी, एम० ए०, इब्राहीम-इमदाद बाहमी, हैदराबाद (दकन) सन् १६२० ई०, पृ० १०५-६।

फिर उन्हीं जाकिरप्रिय मौलवी अब्दुलहक की तान सुनिए और देखिए कि सचाई का हाथ किधर उठता है। उनका कितना सटीक कहना है—

"दकन में हिंदी ने जब अदबी सूरत एख़्तयार की तो फ़ारसी के साँचे में ढल गई, लेकिन बहुत से हिंदी अल्फ़ाज और हिंदी तरकीबें और बाज हिंदी ख़सूसियतें देसी ही बाकी रहीं। उस वक़्त के अदीब और शाइर ने दो दरियाओं को जो मुख़्तलिफ़ सिम्त में बह रहे थे एक नहर खोदकर ला मिलाया और यही वजह है कि उस वक़्त की जबान में गंगाजमुनी तरकीबों की झलक नजर आती है। और ईरानी इश्क़ के पहलू ब पहलू हिंदी प्रेम का जलवह दिखाई देता है। सूरत एक है मगर जलवे दो हैं। बात एक है मगर मजे दो हैं। बाद में जो अदीब और शाइर आए जो मये शीराज के मतवाले थे, उन्हें जो चीजें अजनबी और ग़ैरमानूस और अपने जौक़ के खिलाफ नजर आईं, वह उन्होंने चुन-चुनकर फेंक दीं और बजाय हिंदी के फारसी असर ग़ालिब आ गया। इसमें 'वली' और उसके हमअसर एक हद तक काबिले इलजाम हैं।"[१]

दक्षिण में जो कुछ हुआ उसका आभास मिल गया। अब उत्तर की 'शुद्धि' पर ध्यान दीजिए और कृपया भूल न जाइए

१—उर्दू, अंजुमने तरक्क़ीए उर्दू, वही, जनवरी सन् १६२२ ई०, पृ० १६-२०।

कि 'पाकिस्तान' का 'पाक' भी यहाँ मौजूद है। मौलाना अब्दुस्सलाम नदवी साहब का निष्कर्ष है कि

"दिल्लासूस 'दकन' की ज़बान 'दिल्ली' और 'लखनऊ' की ज़बान से बिल्कुल मुख्तलिफ और संस्कृत और भाका में मिली जुली होती थी, और क़दमाय के पहले दौर तक 'दिल्ली' में भी बहुत कुछ उस ज़बान का असर क़ायम रहा। इस बिना पर उर्दू क़दमा के दूसरे दौर में मोसल्लेहीने उर्दू और मोजद्दाने फ़न ने शाइरानः इस्लाह की तरफ़ तवज्जह की, तो उनके सामने सबसे पहले इस्लाहे ज़बान का मसयलः आया। और 'शाह हातिम', 'ख्वाजः' 'मीर दर्द' और 'मीर' व 'मिरज़ा' ने ख़सूसियत के साथ क़दीम दकनी अल्फ़ाज़ के ख़स व ख़ाशाक से इस ज़बान को पाक व साफ़ किया। लेकिन इसके बाद भी एक मुद्दत तक अमलन् यह अल्फ़ाज़ उर्दू ज़बान का जुज़ व लायनफ़क रहे। और ख़ुद 'मीर' व 'मिरज़ा' ने बकसरत संस्कृत व भाका के अल्फ़ाज़ इस्तैमाल किए।"[१]

'मीर' और 'मिरज़ा' के बाद लखनऊ का अखाड़ा जमा तो 'उस्ताद' 'नासिख़' ने

"जहाँ तक मुमकिन हुआ फ़ारसी और अरबी ज़बान के अल्फ़ाज़ इस्तैमाल किए और हिंदी और भाका के अल्फ़ाज़ को छोड़ दिया।"[२]

१—शेरुलहिंद, हिस्सा दोयम, मारिफ़ प्रेस आज़मगढ़, पृ० १।
२—वही, हिस्सा अव्वल, पृ० १६१।

यदि इमाम नासिख का यह जिहाद यहीं रुक जाता और लोग इतने ही से संतुष्ट हो जाते तो भी गनीमत थी। लेकिन नहीं, नासिख ने कुछ दूर की सोची और यह नियम लागू कर दिया कि

"फारसी और अरबी अल्फाज जहाँ तक मुफीद माने मिलें हिंदी अल्फाज न बाँधो।"[1]

हिंदी शब्दों के प्रति इन विधाताओं का जो भाव रहा है उसका उल्लेख करना तो दूर रहा उलटे महात्मा जाकिरहुसैन ने हिंदीवालों पर दोलत्ती झाड़ दी है। हिंदीवाले भी एक ही निचले। चुपचाप उन्हें पुचकारते जा रहे हैं। पर उर्दू के अभी कल के हजरत नियाज फतेहपुरी पिनककर यहाँ तक कह जाते हैं कि समझ में नहीं आता कि ये सितारे किस आसमान से टकराकर टूट पड़े हैं और किस जबान का पुच्छलतारा बन रहे हैं। देखो तो इनकी सनक। जोम में यहाँ तक बक जाते हैं कि

"ख़ुद 'वली' को शुक्रगुजार होना चाहिए कि वह यहाँ (दिल्ली) आकर आदमियों की बोली बोलने लगे वरनः उसी 'सजन', 'बिरहा' और 'नैन' में पड़े रहते।"[2]

१—जलवए ख़िज्र, जिल्द अव्वल, नूरुल् अनवार प्रेस आरा, सन् १८८४ ई०, पृ० ८४।

२—निगार, उर्दू शाइरी नंबर, जनवरी सन् १९३५ ई०, लखनऊ, पृ० १६०।

और थानरवंशी 'अरशद' गोरगानी ने तो न जाने क्या समझकर यहाँ तक कह डाला कि

"ज़बाने उर्दू का था जो ,कुरआँ तो 'मसहफ़ी' उसके मसहफ़ी थे।
ग़लीज़ लफ़्ज़ों से मतरों से भरो है वह ही ज़बाने उर्दू।"[१]

तो क्या वी उर्दू कुरान के लिये सत साधने को तैयार हैं? मजहब के लिये सती होना चाहती हैं? अजी कहाँ की बात है। वह तो मजहबी जबानों से बहुत आगे बढ़ गई हैं। सुनिए न, 'अरशद' साहब का कहना है। तनिक ध्यान से सुनिएगा। वह किस सफाई से कहता है—

"किताबें जितनी हैं आसमानी जबाने उम्द: हैं सबकी, लेकिन
,खुदा ने हरगिज़ न की इनायत किसी को इनमें ज़बाने उर्दू।"[२]

अच्छा! तो यह 'नि.अमत' किस सौभाग्यशाली के लिये ',खुदा' के यहाँ सुरक्षित थी? उत्तर सामने है—

"जनावे साहबे क़रीं प नाज़िल फ़क़्त यह नि.अमत ,खुदा ने की थी।",

और

"इन्हीं की औलादें इनकी वारिस, वही हैं पैग़म्बराने उर्दू।"[३]

हाँ, तो उर्दू के पैगम्बरों ने जो पाक काम किया वह यह था कि

१—फ़रहगे आसफ़िया, वही, तक़रीज़, पृ० ८५६।

२—वही, पृ० ८५५।

३—वही, पृ० ८५५।

"किसी ने औरत की जबान समझकर इन अल्फाज के गले पर छुरी फेरी, किसी ने हिंदी के ठेठ मुहावरे जानकर तसलीम करने से पहलूतेही फरमाई।"[१]

पर वस्तुतः थे ये

"अजहद फसीह बलीग़ पुरदर्द और पुरमानी, पुरअसर और पुरशौक्त अल्फाज।"[२]

"मसलन् 'पर' (लेकिन के मानों में) मतरूक बताया जाता है। नस्र में मतरूक हो तो हो लेकिन कोई वजह नहीं कि नज्म में मतरूक कर दिया जाए। किस क़दर मुख्तसर और खूबसूरत लफ्ज है और हर लिहाज से लेकिन से बेहतर है। शाइर इसे बिला तकल्लुफ़ इस्तैमाल कर सकता है। 'भाना' भी मतरूक है। हालाँकि इसके बजाय उर्दू में कोई लफ्ज नहीं। पसद आना और पसद करना में एख्तयार और इरादह जाहिर होता है और 'भाना' वहाँ इस्तैमाल होता है जो कोई शै बग़ैर इरादह व एख्तयार के खुदबखुद दिल को अच्छी मालूम होती है। कहते हैं कि 'परे' का लफ़्ज भी मतरूक है। लेकिन जब यह अर्ज किया जाता है कि इसकी बजाय क्या इस्तैमाल किया जाय तो इरशाद होता है कि 'उधर'। मगर 'परे' और 'उधर' के मानों में बहुत फ़र्क है। 'उधर' सिम्त को बताता है और

१—फरहंगे आसफ्या, वही, सबब तालीफ, पृ० २३।

२—वही, पृ० २३।

'परे' बाद का इज़हार करता है। 'मत' भी मतरूक समझा गया है। हालाँ कि इसके माने खास हैं। 'न' यह काम नहीं दे सकता। 'न' अफ़आल की आम नफी के लिये है और 'मत' नहीं के वास्ते मखसूस है। इसी तरह बहुत से लफ्ज़ मसलन् 'खातिर', सो, तो, नाव, मुँद जाना, भला (बमाने अच्छा) गाँठ वग़ैरह वग़ैरह मतरूक क़रार दिए गए हैं।"[1]

'पाक करने', 'घिनियाने', 'छुरी फेरने', 'नाक कटाने' और 'हिंदुस्तानी[2] ढाँचे और ग्रामर' पर चलने की बात हो चुकी। फिर भी शायद आप यह कहें कि 'नाक कटाने' का उल्लेख तो कहीं भी नहीं हुआ। ठीक है। पर क्या कीजिएगा? जब नाक ही नहीं तो उर्दू किस मुँह से अपनी नाक कटाए? दुनिया अच्छी तरह जानती है कि

१—उर्दू, अंजुमने तरक्क़ीए उर्दू, वही, जनवरी सन् १९३५ ई०, पृ० १४६।

२—'हिंदुस्तानी ढाँचे और ग्रामर' के विषय में कुछ कहना बेकार है। उर्दू के जो अवतरण दिए गए हैं वे उर्दू का रहस्य खोलने के लिये पर्याप्त हैं। यदि उन्हीं के 'ढाँचे' और 'ग्रामर' का जाहिरी दुनिया में 'हिंदुस्तानी ढाँचा और ग्रामर' कहते हैं तो हमें 'हिंदुस्तानी' का अर्थ फिर से समझना होगा।

"ख़ुद इसकी हस्ती कोई मुस्तक़िल हस्ती नहीं है।"[1]

फिर भी डाक्टर जाकिरहुसैन को यह सब नहीं दिखाई देता। नहीं, वह देखते और बहुत दूर की देख रहे हैं। विश्वास न हो तो उनकी 'अब्बू ख़ाँ की बकरी' का तनिक ध्यान से अध्ययन कीजिए और देखिए तो सही दिनौंधी किसे और किस ओर हो रही है। 'बकरी' को 'भेड़िया' से लड़ा देना, आप ही का काम है। आप किस दिलेरी से कहते हैं कि

"सितारे एक एक करके ग़ायब हो गए। चाँदनी ने आख़िरी वक्त् में अपना ज़ोर दुगुना कर दिया। भेड़िया भी तंग आ गया था कि दूर से एक रोशनी-सी दिखाई दी। एक मुर्ग़ ने कहीं से बाँग दी। नीचे बस्ती में मस्जिद से अज़ान की आवाज़ आई। चाँदनी ने दिल में कहा कि अल्लाह तेरा शुक्र है। मैंने अपने बश-भर मुक़ाबिला किया, अब तेरी मरज़ी! मुअज़्ज़न आख़िरी दफ़ा अल्लाह-अकबर कह रहा था कि चाँदनी बेगम ज़मीन पर गिर पड़ी।"[2]

ज़रा सोचने की बात है कि डाक्टर जाकिरहुसैन ख़ाँ ने अब्बू ख़ाँ की बकरी के लिये 'बेगम' का प्रयोग क्यों किया और क्यों उसके लिये 'मुअज़्ज़न' के 'आख़िरी दफ़ा' 'अल्लाह-अकबर'

१—शेरुल् हिंद, हिस्सा दोयम, वही, पृ० ४१७।

२—महमूद सीरीज़ फ़ॉर अडल्ट्स, नंबर ७३, प्रथम संस्करण, पुस्तक-भंडार पटना, पृ० १२।

का विधान किया। क्या यह काम 'रोशनी' यानी खुदाई 'नूर' से नहीं निकल सकता था? यही क्यों? मुसलमानों की बस्ती के लिये खासकर 'अलमोडा' ही क्यों चुना गया? यदि अब तक बात आपकी समझ में न आ सकी हो तो कृपया कट्टर शामी-भक्त गार्सां-द-तासी के निम्न निष्कर्ष पर ध्यान दें और जाकिरी दुनिया को सदा के लिये समझ लें। उनका साधार कहना है—

"इस जगह फिर एक अम्र की जानिब इशारह करना जरूरी समझता हूँ जो पहले भी अर्ज कर चुका हूँ। वह यह है कि इसलामी क़िस्सों में आप हमेशह देखेंगे कि तब्लीगे इसलाम की जानिब किसी न किसी पैरायह में जरूर इशारह किया जाता है।...किस्सों में इसलामी अक़ायद एसनाती मुनैयत के साथ पेश किए जाते हैं और इसलाम की जानिब गैर मुसलमानों को निहायत मोअस्सिर अदाज में रुजूअ किया जाता है।"[१]

काँग्रेसी सरकार की देखरेख अथवा काँग्रेसजनों के संकेत पर जो रीडरें किसी कोरे कागद का मुँह काला करके निकली हैं उनमें एक बात जरूर अच्छी आ गई है कि उनमें गार्सां-द-तासी का कहना सर्वथा साधु ठहरता है। चाहे जिस भाव से हो, परमात्मा का नाम लेना अच्छा ही है। पर प्रश्न

१—खुतबात गार्सां-द-तासी, अंजुमने तरक्क़ीए उर्दू, वही, सन् १६३५ ई०, पृ० ३४६-५० ।

यहाँ दीन या मजहब का नहीं बल्कि एक सामान्य बोलचाल की मिली-जुली भाषा और संस्कृति का है। सो उसके विषय में कुछ कहना ही व्यर्थ है। उसके प्रतिकूल जो विकट आंदोलन जिहाद के रूप में सर सैयदी समय से चला आ रहा है उसका सिक्का अच्छी तरह जम चुका है। 'हिंदुस्तान में बसनेवाले' परदेशबंधु उससे मुक्त होने से रहे। और दलित हिंदी[1] मुसलमानों में इतनी शक्ति नहीं कि तुर्को और ईरानियों से राष्ट्रसेवा का पाठ पढ़ें और सच्चे दिल से दीन का पालन करें। उनसे तो दीन की दुहाई के नारे पर परदेशबंधु कुछ भी करा सकते हैं। यही तो मुख्य कारण है कि हमारे कल के 'स्वदेशी' डाक्टर जाकिरहुसैन खाँ आज 'देशी' से भी भड़कते हैं और हिंदीवालों के इसके लिये भी कोसते हैं।

अस्तु, हम डाक्टर साहब के स्पष्ट बता देना चाहते हैं कि हम उन सभी शब्दों को देशी समझते हैं जो यहाँ आकर हिलमिल गए और यहाँ के अन्न-जल और नमक से पलकर यहीं के अनुशासन में हो रहे। भला आप ही कहें कि हिंदी अथवा कोई भी सजीव भाषा यह कब स्वीकार कर सकती है कि 'आलिम' की जमा 'उलमा', 'काग़ज़' की जमा 'काग़ज़ात' और उस्ताद की जमा 'असातज़ह' है। अरे आलिमों,

१—देखिए पंडित वेंकटेशनारायण तिवारी का 'मुसलमानों को दलित जातियाँ' शीर्षक लेख, 'सरस्वती', इंडियन प्रेस, प्रयाग, जनवरी, सन् १९४० ई०।

कागजों और दस्तावेजों ने आपका क्या बिगाड़ा है, कि उनकी जगह न जाने कहाँ के 'असातजह' किसको दे रहे हैं। और देश-विदेश में रंकों की भाँति 'ग्रामर' के लिये मारे मारे फिर रहे हैं। फिर भी गर्व करते हैं 'हिंदुस्तानी' ढाँचे और 'हिंदुस्तानी' ग्रामर का। बात बड़ी और विस्तार की है अतएव यहाँ नहीं उठाई जा सकती। समझदारों के लिये इतना संकेत काफी है।

हाँ, तो हिंदी के विषय में डाक्टर जाकिरहुसैन खाँ साहब जैसे व्यक्ति कुछ भी कहते रहें पर जानकारों से यह बात छिपी नहीं है कि हिंदी के आचार्य सदा से प्रचलित और बोल-चाल के फारसी अरबी शब्दों को अपनाते रहे हैं। और यह इसी अपनाने का फल है कि उर्दू ने 'खातिर' को 'मुब्तजल' यानी 'ठेठ' हो जाने के कारण देशनिकाला दे दिया। नहीं तो वस्तुतः था वह 'विजयी' बहादुरों का अपना ही शब्द। सो भी शुद्ध अरबी। हिंदी क्या, संसार की किसी भी भाषा में 'मतरूक' का पर्याय नहीं। वह खुद उर्दू की ईजाद और उर्दू की निजी कमाई है। रही हिंदी की हठधर्मी। सो यहाँ इतना और जान लीजिए कि हिंदी के प्रमुख आचार्य, काशीनिवासी स्वर्गीय भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का आदेश है—

"अँगरेजी अरु फारसी, अरबी संस्कृत ढेर।
खुले खजाने तिनहि क्यों, लूटत लावहु देर॥"[१]

१—भारतेंदु जी ने 'हिंदीवर्द्धिनी सभा' इलाहाबाद में व्याख्यान देते हुए सन् १८७७ में कहा था।

और उसी 'संस्कृत' नगरी काशी की 'नागरीप्रचारिणी सभा' के 'हिंदी-शब्दसागर कोश' के संबंध में एक सच्चे मुसलिम विद्वान् का मत है कि—

"मुश्तरकः फज़ा पैदा करने की एक मसऊद व मुबारक कोशिश 'शब्दसागर' के मोवल्लिफ़ों ने की है, चुनांचे अरबी के जिन लफ़्ज़ों को मैंने बतौर मिसाल पेश किया है वह सब उसमें मौजूद हैं। और यही क्यों ? उसमें तो ऐसे ऐसे मुहावरे भी मिलते हैं जैसे 'ज़रब ख़फ़ीफ़' और 'हुक्म की तामील करना'। यह उन मोवल्लिफ़ों की बुलंदनज़री और दरयादिली है। और क़ौमी नुक्तः नज़र से उसकी दाद न देना इंसाफ़ का ख़ून करना है। इसका सबूत देने के लिये कि जो अरबी व फ़ारसी के लफ़्ज़ जुज़ व ज़बान बन गए हैं और उनको वह वाक़ई इसी नज़र से देखते हैं, उन्होंने यहाँ तक किया है कि अक्सर संस्कृत लफ़्ज़ों के माने व मफ़हूम भी अरबी व फ़ारसी लफ़्ज़ों की मदद से बताए हैं।"[1]

हिंदी फिर भी अपराधिनी है और उर्दू पाक। यह शुद्ध मतिभ्रम नहीं तो और क्या है ?

१—मिस्टर सलीम जाफ़र, ज़माना, कानपुर, फरवरी सन् १९३६ ई०, पृ० १०० ।

नबी की जबान

रेडियो के मुँह से उर्दू आज तो मधुरी बोली बन रही है पर कल तक उसके पेट की बात यह थी कि

"जब मैं जिला बीड का अव्वल ताल्लुकदार यानी डिप्टी-कमीश्नर था तो मेरा गुज़र एक बहुत ही छोटे गाँव में हुआ। वहाँ आसामियों को तलब करके उनके हालात दरयाफ़्त किए गए तो एक मुसलमान भी लँगोटी बाँधे आया और अपना नाम अशवंत खाँ बताया। मैंने उससे उर्दू में गुफ़्तगू करनी चाही। मगर जब वह अच्छी तरह न सका तो मरहठी में बातचीत की जिसमें वह ख़ूब फर्राटे उड़ाता था और यह देखकर मैंने उससे पूछा कि आया वह अपने घर में भी मरहठी बोला करता है। यह सुनते ही उसका चेहरा सुर्ख़ हो गया और कहने लगा 'साहब, मैं मरहठी क्यों बोलने लगा? क्या मैं मुसलमान नहीं ?' ऐसी ही हालत ब्रह्मा में भी देखी कि गो मुसलमानों की मादरी ज़बान ब्रह्मी है लेकिन वह उर्दू को अपनी क़ौमी और मजहबी ज़बान समझते हैं।"[1]

कहाँ हैं बात बात में महात्मा गांधी की धज्जियाँ उड़ानेवाले अंजुमने तरक्कीये उर्दू (हिंद) के 'हाकिनी' सेक्रेटरी

१—ख़यालाते अज़ीज़, मौलवी मुहम्मद अज़ीज़, ज़माना प्रेस, कानपुर, पृ० १७१।

मौलवी अब्दुल हक साहब ! तनिक मैदान में आकर आली जनाब मौलवी मुहम्मद अजीज मिर्जा साहब के इस दावे को गलत तो साबित कर दें। क्या उनको अपने घरघाट का कुछ पता है या योंही राष्ट्रनेताओं को कोसकर बी उर्दू को पटरानी बनाना चाहते हैं? पढे लिखे बाबुओं की गुमराही चाहे जो कुछ करा ले पर सच्ची बात तो यही है कि बहुत दिनों से परदेशी बधु जीने, खाने तथा ठाट से रहने के लिये ठेठ मुसलमानों में मजहब के नाम पर उर्दू का प्रचार करते आ रहे हैं और उसे 'नबी की जबान' के रूप मे ख्यात भी कर चुके हैं। यह इसी मजहबी जोम का परिणाम है कि 'अशवंत खाँ' अपनी जन्म-भाषा 'मरहठी' को मरहठी नहीं मानते बल्कि उसे 'नबी की जबान', 'मुसलमानी' अथवा उर्दू समझते हैं। अशवंत खाँ के देश हैदराबाद मे उर्दू जो मातृभाषा के रूप में पसर रही है उसका रहस्य अब आपके सामने है। आप उसकी राष्ट्र-प्रियता को भली भाँति समझ सकते हैं और आसानी से यह भी जान सकते हैं कि मनुष्य-गणना मे उर्दू की सख्या कितनी और किस चाल से बढेगी।

अशवत खाँ को अलग रखिए। वह भी तो महात्मा गांधी का लँगोटिया यार ठहरा। पर मियाँ अबुलफजल अब्बासी को तो भुलाया नहीं जा सकता। वह तो कई कलम पास और हिंदू-मुसलिम एकता के परम भक्त हैं और इसी भक्ति की पुण्य-प्रेरणा से लिख जाते हैं कि

"तमाम जबानें हिंदोस्तान की ऐसी हैं कि अगर उनको मुहज्ज़ब और शाइस्तः करना चाहें तो शाइस्तः हालत में आने के बाद उर्दू जबान की सूरत पैदा होती है।"[१]

अतएव अनिवार्य हुआ कि शाइस्ता लोग अपनी शाइस्ता जबान को उर्दू कहें। अजी, सच्ची बात तो यह है कि

"उर्दू की इमारत खास मजबूत इल्मी जबानों की बुनियाद पर क़ायम की गई है, लेहज़ा उसकी तरक्क़ी में कोई क्लाम नहीं है, और गो कि उसकी मुखालिफ़ बहनें निहायत कसरत से खस व खाशाक की तरह उसके सैलाबे तरक्क़ी में हायल होती रहती हैं मगर उनकी नाक़िस तहज़ीब बहुत तेजी से फ़ना होती जा रही हैं और बहुत क़रीब है वह जमानः जब कि उर्दू हिंदोस्तान के लिये और हिंदोस्तान उर्दू के लिये नागुज़ीर समझे जाएँगे।"[२]

कहना न होगा कि अब मौलवी नदीमुल हसन साहब का 'वह जमाना' आ गया है और फलतः उर्दू अपनी 'मुखालिफ बहनों' की 'नाक़िस तहज़ीब' को मिटाने पर आमादा भी हो गई है। 'श्री' और 'वंदे मातरम्' के लिये जो रणभेरी बजी

१—ज़बाने उर्दू, गुलाबसिंह एंड सन्ज़ प्रेस, लखनऊ, सन् १६०० ई०, पृ० २२।

२—उर्दू, अंजुमने तरक्क़ीए उर्दू, वही, सन् १६२२ ई०, पृ० ३०६।

यह तो कल की बात हो गई। आज पंजाब और कश्मीर की मुखालिफ बहने[1] टटके आँसू बहा रही हैं। क्या अपनी तहजीब का मोह यों ही छूट जायगा? कुछ तो उसके लिये झख मारना ही पड़ेगा। पर, आप तो अब 'नाकिस तहजीब' के जीव नहीं रहे और उर्दू के पक्के 'मुहज्जब और शाइस्ता' बन गए। किंतु ध्यान रहे

"जहाँ जहाँ उर्दू मादरी ज़बान नहीं है या कसरत से नहीं बोली जाती बल्कि उसके बजाय कोई और हनूमानी, मजहोलुल-कौमियत, भोंडी, गैरसजीदः, गैरमुल्की जबान बोली जाती है, सब जगह नजामे मुआसरत म बेशुमार अजूब बाते महसूस होंगी कि इक मामूली और अदना जौके सलीम रखनेवाला मुहिब्बेवतन भी अपने अदबी व अखलाकी जमीर की रू से इफराह व तफ्रीत के बगैर न रह सकेगा।"[2]

मौलवी नदीमुल हसन साहब ने मधुर वाणी में जो अमृत-वर्षा की है उसका भाव यह है कि जहाँ कहीं उर्दू का प्रभाव

१—देखिए पडित वेकटेशनारायण तिवारी के 'क्या काश्मीर से हिंदी लद जायगी ?' और 'पजाब में हिंदी का विरोध' शीर्षक लेख जो क्रमश. अप्रैल सन् १९४० की 'सुधा' और मई १९४० की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुए हैं। उनसे उर्दू के 'तिकड़म' का कुछ पता चल जायगा।

२—उर्दू, अंजुमने तरक्कीए उर्दू, वही, सन् १९२२ ई०, पृ०३८।

नहीं है वहाँ कोई न कोई ऐसी बदरी भाषा बोली जाती है जिसमें न तो कोई जातीयता है और न शिष्टता। वहाँ यदि कोई अति साधारण सहृदय देशप्रेमी भी पहुँच गया तो उसका हृदय वहाँ भी अति अनोखी और बेतुकी बातों से भन्ना उठेगा और उसका जी घृणा एवं क्षोभ से भर जायगा। सारांश यह कि मराठी, गुजराती, बँगला, तामिल और तेलगू आदि भाषाओं में न तो कोई साहित्य है और न शिष्टता। वहाँ तो 'चौके सलीम' लोगों को 'ग़ैरमुल्की' अथवा विलायती बंदर दिखाई देते हैं जिनके बातव्यवहार को देखकर इन खुदाई बंदों को उबकाई आ जाती है। आती रहे। पर इतना तो याद रहे कि यह उन्हीं हनूमानी भाषाओं का राज्य है, कुछ अनूठी उर्दू रानी का नहीं जिन्हें लोग न जाने किस किस की चीज समझते हैं।

हिंदुस्तान के अनोखे या 'अजूबा' लोग कुछ भी बकते रहें पर देश के सच्चे मुसलमानों को तो प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है कि

"जब तक हमारी जबान का अदब हिंदी शाइरी और अरबी शाइरी की तरह हमारी मुल्की खसूसियात का तर्जमान न होगा उसको मुल्की अदब कहलाने का कोई हक नहीं है। हमने अपने कौमी और मजहबी खयालात व रिवायात को अपने अदब में भर दिया है, इसका कोई मुजायक़ः नहीं है। लेकिन अफसोस इस बात का है कि हम सदियों से जिस मुल्क में आबाद हैं

उसकी खसूसियात की झलक हमारी नज्मों और नस्रों में नहीं है। हिंदोस्तान में कौन सी ऐसी दिलरुबा और शानदार चीज नहीं है जो हिंदोस्तान से बाहर के मुल्कों ही में पाई जाती है। यहाँ बुलंद और शानदार पहाड़ हैं जिनकी चोटियाँ बर्फ से ढकी रहती हैं। यहाँ गुंजान जंगल हैं जिनमें अजीब और खौफनाक दरिंदे आबाद हैं। यहाँ ऐसे दिलकश सब्ज:जार हैं जिनके मजरों को देखकर इसान अश अश करता है। यहाँ ऐसे रंगबिरंग के फूल हैं जिनकी रंगीनियाँ कोसक़ज़ह को मात करती हैं। यहाँ ऐसे ख़ुशअलहान तयूर है जिनकी रागिनियाँ रूहानी जजबात को जिंद: करती हैं। यहाँ ऐसे दरिया हैं जिनके पानियों की रवानी और दवानी तख़ैयुल की सतह पर हलकोरे पैदा करती हैं। यहाँ ऐसी नस्लें आबाद हैं जिनके असलाफ तमद्दुन की शानदार इमारतें खड़ी कर चुके हैं। यहाँ कदम कदम पर हुस्न है, अजमत है, रंगीनी है, दिलफरेबी है, गरज़े कि शाइरमिजाज इसानों के लिये वह सामान मौजूद है कि अगर वह जरा करवट लें और गफलत की आँखें खोल दें तो एक शानदार और जमील अदब की बुनियाद रख सकते हैं। हिंदुओं ने अब से पहले फितरत के इन मजरों पर निगाह दौड़ाई है। अगर हम भी उसी ऐनक से काम लें तो हमारा अदब और उनका अदब एक हो जायगा और आज नहीं कल जरूर हम एक ,अलम के साए में तरक्की के क़दम बढाएँगे। मगर उस वक्त के आने से

पहले अपनी गलतियों और गफ्लतों की तलाशी करनी जरूरी है।"[1]

मौलाना वहीदउद्दीन सलीम पानीपती ने बात तो बड़े ठिकाने की कही। परन्तु क्या उर्दू के पुराने उस्ताद 'सौदा' का गुरुमन्त्र यह होने देगा? उनकी दिली दीक्षा तो यह है—

"गर हो कशिशे शाहे खुरासान तो 'सौदा'
सिजदा न करूँ हिंद की नापाक ज़मीं पर।"[2]

हाँ, यह होकर रहेगा। क्योंकि यह उनके भी बाबा 'आदम' को शरण देनेवाला देश है और शुद्ध मुसलिम साहित्य में 'नापाक' नहीं स्वर्गतुल्य (जन्नतनिशाँ) माना जाता है। कहा तो यहाँ तक जाता है कि खुद 'रसूल' ने फरमाया था कि

"मुझे हिंदोस्तान की तरफ़ से रब्बानी खुशबू आती है"।[3]

अस्तु, भाषा के क्षेत्र में तो मजहब को लेकर किसी प्रकार की धाँधली हो ही नहीं सकती। जो लोग 'नबी जी की ज़बान' की ओट में उर्दू का प्रचार कर रहे हैं और भारत की सभी भाषाओं को घृणा की दृष्टि से देख रहे हैं वे मजहबी नहीं और चाहे जो कुछ हों। उर्दू के लिये मर मिटने की जो अपील

१—उर्दू, अंजुमने तरक्की उर्दू, वही, सन् १६२५ ई०, पृ० ५६३-४।

२—सौदा, शेख़ चाँद, उसमानिया यूनिवर्सिटी हैदराबाद की ओर से अंजुमने तरक्कीए उर्दू और गाबाद, सन् १६३६ ई०, पृ० ८५।

३—अरब व हिंद के ताल्लुक़ात, सैयद सुलेमान नदवी, हिंदुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद, सन् १६३० ई०, पृ० ३।

चारों ओर की जा रही है वह किसी अल्लाह की भीतरी प्रेरणा अथवा किसी कुरान की सीधी आज्ञा से नहीं। उसका रहस्य तो कुछ और ही है। उस पर विचार करने के पहले ही हमें यह अच्छी तरह देख लेना चाहिए कि अल्लाह किसी भाषा के विषय में अपने दूत से क्या कहता है और क्यों वह अरबी भाषा में ही कुरान उतारता है। सुनिए, वह अपने 'रसूल' से साफ साफ कहता है—

"(ऐ पैग़ंबर !) हमने इस (.कुर्आन) को तुम्हारी बोली में इस ग़रज़ से आसान कर दिया है कि यह (अह्ले अरब इसके मज़ामीन को समझकर) नसीहत पकड़ें।"[१]

अल्लाह ने एक जगह यह भी स्पष्ट कर दिया है कि कुरान क्यों अरबी में उतारी गई। तनिक ध्यान से सुनें, कितना सटीक समाधान है। उसका कहना है—

"अगर हम इसको अरबी के सिवा दूसरी जबान का .कुर्आन बनाते, तो (यह कुफ्फ़ारे मक्का) ज़रूर कहते कि इसकी आयतें (हमारी ही ज़बान में हमको) अच्छी तरह खोलकर क्यों न समझाई गईं। क्या (तअज्जुब की बात है, .कुर्आन की ज़बान) अजमी (यानी ऊपरी) और (हमारी) अरबी।"[२]

१—कुरान मजीद, २५.४४.३, डाक्टर नजीर अहमद का अनुवाद। ख्वाजा हसन निजामी देहलवी द्वारा हिंदी में संपादित, द्वि० भाग, १६२६ ई०, पृ० ७११।

२—कुरान मजीद, २४.४१.५, वही, पृ० ६८६।

क्या अब भी यह कहने की बात रही कि यदि यहाँ क़ुरान उतरती तो उसकी भाषा क्या होती। अल्लाह की स्पष्ट घोषणा तो यह है—

"व मा अर्सल्ना मिन् रसूलिन् इल्ला बेलेसाने कौम ही।"

इसका अर्थ है—"और हमने तमाम (पहले) पैग़बरों को (भी) उन्हीं की क़ौम की ज़बान में पैग़बर बनाकर भेजा है।"[१] अल्लाह की यह सीधी वाणी देशभेद के कारण आपके लिये कितनी टेढ़ी हो गई, पर है यह वस्तुत आपके ही काम की 'वही'[२]

सारांश यह कि अल्लाह की कोई निजी भाषा नहीं। सभी बोलियाँ उसी की देन हैं। मक्का और अरब के लिये यदि अरबी है तो हिंद के लिये हिंदी। वही हिंदी जिसके विषय में परम तबलीगी नेता ख़्वाजा हसन निज़ामी तक खुले शब्दों में कह जाते हैं—

१—क़ुरान मजीद की यह वह प्रसिद्ध आयत है जिसके आधार पर सर्वत्र देशभाषाओं को महत्त्व मिला और फलत क़ुरान मजीद के अन्य भाषाओं म अनुवाद भी हुए। यह सूरा इब्राहीम की चौथी आयत है और यह उल्था मौलाना अशरफ अली थानवी का है।

२—रसूल को जो इलहाम होता था उसे 'वही' कहते हैं। 'वही' केवल नबियो पर उतरती है और इलहाम किसी को भी हो सकता है।

"यह हिंदी जबान ममालिक मुत्तहदा अवध और रुहेलखंड और सूबा बिहार और सूबा सी० पी० और हिंदुओं की अकसर देसी रियासतों में मुरव्वज है। गोया बंगाली और बरमी और गुजराती और मरहठी वगैरा सब हिंदुस्तानी जबानों से ज्यादा रिवाज हिंदी यानी नागरी जबान का है। करोड़ों हिंदू औरत मर्द अब भी यही जबान पढ़ते हैं और यही जबान लिखते हैं। यहाँ तक कि तकरीबन एक करोड़ मुसलमान भी जो सूबा यू० पी० और सूबा सी० पी० और सूबा बिहार के देहात में रहते हैं या हिंदुओं की रियासतों में बतौर रिआया के आबाद हैं..........हिंदी के सिवा और कोई जबान नहीं जानते।"[१]

ध्यान देने की बात यह है कि ख्वाजा हसन निजामी एक प्रसिद्ध सूफी गद्दी के महंत हैं। जनाब जिन्ना या मौलवी हक की तरह किसी 'लीग' के प्रेसीडेंट या किसी अंजुमन के परमानेंट सेक्रेटरी नहीं, और सो भी पक्के 'देहलवी'। फिर उनके सामने कोई अधकचरा गुजराती अथवा 'पापड़ी' (हापुड़ी) मौलवी कहाँ तक टिक सकता है। वह तो दीन के लिये नहीं, दबदबा के लिये छटक रहा है।

अस्तु, कहना यह था कि वस्तुतः नागरी ही यहाँ की लोकलिपि तथा लोकभाषा है। सच्चे इसलाम की दृष्टि से भी

१—कुरान मजीद (हिंदी) भूमिका, जे० बी० प्रेस, फतहपुरी देहली, सन् १९२६ ई०, पृ० २।

उसी का समर्थन सच्चा मुसलिम धर्म है। कुरान मजीद की पक्की साखी भी यही है। रही उर्दू की गोहार। सो उसके सबंध में याद रखिए कि वह मजहब नहीं बल्कि राजनीति को लेकर जन्मी है और 'राज' के लिये ही मती भी हो रही है। उसकी भेदभरी बातों को समझने के लिये अति आवश्यक है कि हम उसके निपट पर परम गूढ़ रहस्य से भली भाँति परिचित हो जायँ। अच्छा, सुनिए। वह सीधा सा पर सच्चा रहस्य यह है कि

"इब्तदाइए तारीख से फातेहैन हमेशा मफ़तूहैन की जबान यानी उनकी क़ौमियत व तमद्दुन को बरबाद करना फ़ौजी इस्तलाय से दूसर दरजे पर जानते हैं। क्योंकि इससे मिंजुमल दीगर फ़वायद के दो बहुत बड़े और रसीली फ़ायदे हासिल होते हैं। एक तो यह कि फातेहैन की जबान मफ़तूहैन की जबान की जगह ले लेती है। दूसरे यह कि मफ़्तूहैन की जबान या कौमियत बिल्कुल मुरदह हो जाती है। और अगर कुदरत इसमें किसी किस्म का बुख्ल करती है तो जदीद मसनूई तरीक़ों से इस तर्ज़ युर जबान को निहायत हावी और पुरअसर बना दिया जाता है। .. अहले अरब ने अपनी जबान के हाथों जो जबरदस्त और इसलामी असर मुद्दतों तक तमाम एशिया व यूरप पर बिल वास्तह और बिला वास्तह डाले रखा वह अजहरोमनअश्शम्स है। और जो असर इस जबान ने दिखाया वह हरगिज फ़ौज से हासिल नहीं हो सकता था। क्योंकि जबान के गैरमहसूस

और खामोश असलेहेह् फ़ौज के सार अशगाफ़ और हंगामःजा असलेहेह् से कहीं ज्यादः मार रखते हैं।"[१]

मौलवी नदीमुल हसन साहब की 'मुल्की' और 'मुश्तरका' जबान का जो रूप आपके सामने आया है उसका ठीक ठीक अर्थ तो आपकी समझ में आने से रहा। आप जो उर्दू के नहीं किसी 'ग़ैर मुल्की' 'हनूमानी' भाषा के जीव ठहरे। तो भी इतना जान लीजिए कि इसमें बड़े ठिकाने से यह बता दिया गया है कि एक विजयी जाति किस प्रकार एक विजित जाति की संस्कृति तथा भाषा को नष्ट करती है। जब उसके अस्त्र शस्त्र कुंठित हो जाते हैं और उसका सैनिक बल क्षीण हो जाता है तब वह नाना उपायों से काम लेती और एक बनावटी भाषा के द्वारा प्रजा को ठगती है। भाषा की यह ठगी सेना से कहीं अधिक काम कर जाती है। इसका कारण यह है कि इसकी मार छिपी और मोहक होती है। आप जानते ही हैं कि मुगलों के पतन के साथ ही साथ उर्दू का उदय हुआ। पर आप यह नहीं जानते कि क्यों? आपको इसके लिये कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं। प्रकृत कथन को सामने रख-कर तनिक इस तथ्य पर ध्यान तो दीजिए—

"उर्दू के मालिक उन लोगों की औलाद थे जो अस्ल में फारसी जबान रखते थे। इसी वास्ते उन्होंने तमाम फ़ारसी बहरें

१—उर्दू, अञ्जुमने तरक़्क़ीए उर्दू, वही, सन् १९२२ ई०, पृ० ३००।

और फारसी के दिलचस्प और रंगीन खयालात और अक्साम इंशापरदाजी का फोटोग्राफ फारसी से उर्दू में उतार लिया।"[1]

यदि बात 'फोटोग्राफ' तक ही रह जाती तो भी कुशल थी। पर सत्य तो यह है कि मौलाना अब्दुल हक़ भी कह जाते हैं कि

"उस वक्त के किसी हिंदू मुसन्निफ की किताब को उठाकर देखिए। वही तर्जे तहरीर है और वही असलूबे बयान है। इब्तदा में बिस्मिल्लाह लिखता है। हम्द व नात व मनक़बत से शुरू करता है। शरई इस्तेलाहात तो क्या, हदीस व नस कुरान तक बेतकल्लुफ लिख जाता है। इन किताबों के मुताला से किसी तरह मालूम नहीं हो सकता कि यह किसी मुसलमान की लिखी हुई नहीं।"[2]

अब आप स्वयं देख सकते हैं कि हिंदी संस्कृति और हिंदी भाषा को मिटाने के लिये फारसी के 'धनी' ईरानी तूरानी बच्चों ने फारसी के ठंडी हो जाने पर, विवशता के कारण जो उर्दू का अस्त्र निकाला वह कितने काम का साबित हुआ। सचमुच कलम की मार ने वह कर दिखाया जो युगों में तलवार से न हो सका।

१—नक़्शे आज़ाद, नवलकिशोर गैस प्रिंटिंग वर्क्स, लाहौर, सन् १६१० ई०, पृ० १४।

२—उर्दू, अंजुमने तरक़्क़ीए उर्दू, वही, सन १६३३ ई०, पृ० १४।

बादशाहत हाथ से गई नहीं कि ईरानी तूरानी नाता टूट गया। मुट्ठीभर परदेशियों को अपने हित की सूझी। फिर तो जनाब सर सैयद अहमद खाँ बहादुर ने वह पाठ पढ़ाया कि सभी मुसलमान देखते ही देखते देशी से परदेशी बन गए और हर एक बात में जाने किस मजहब की दुहाई देने लगे। जनाब मुहम्मद मेंहदी हसन ने तो यहाँ तक कह डाला कि

"मुसलमानों ने सबसे बडी ग़लती यह की कि आए थे हुकूमत करने लेकिन इस तरह जमकर रह पड़े जैसे कोई खानः बरबाद परदेश मे अगर बात बन गई तो रईस बन जाता है। इस ग़लती की तलाफी तो अब हो चुकी। लेकिन सवाल यह है कि सात करोड अशर.फुल् मौजूदात जिनमे कोई ईय्यत मजमूई नहीं हमारे किस काम के हैं ? हिंदुस्तान की असली क़ौम हमको एजाफी और खारिजी अंसर समझती है। ग़ैर जगह हमारे फैल पड़ने से यही नहीं हुआ कि हमने अपनी असलियत और एकरंगी खोई, बल्कि अपने साथ उनको भी ले डूबे जिनका यह असली वतन था।"[१]

हिंदुस्तानी लोग मुसलमानों को बाहरी समझते हैं अथवा स्वयं हिंदुस्तानी मुसलमान ही अपने आप को परदेशी बताते हैं इसका पता तो इस 'सात करोड' से ही चल जाता है। रही ले डूबने की बात। सो तो अक्षरशः सत्य है और इस सत्य का

१—इफादात मेंहदी, मेंहदी बेगम, मारिफ प्रेस, आजमगढ़, सन् १९२३ ई०, पृ० ३४६।

सेहरा है जो उर्दू के सर पर जो आज 'नबी जी की जबान' के फतवे पर फैल रही हैं। 'अच्छा, तो परमेशरयु हुकूमती लोग कुछ भी सोचते रहें पर सच्चे मुसलिमों का कहना तो यह है—

"तुरकी, अरबी, हिंदुई, भाषा जेती आहिं।
जेहि महँ मारग प्रेम कर, सबै सराहैं ताहि॥"[१]

अरबी के साथ ही 'हिंदुई' भी ? हाँ हिंदुई भी। क्योंकि—

"हम हिन्दियों का भी फख है कि हमारे देस के भी चंद लफ्ज ऐसे खुशनसीब हैं जो इस पाक और मुकद्दस किनाब (कुरान) में जगह पा सके। पहले उलमाय ने जिन अलफाज का हिंदी होना जाहिर किया था वह तो लगो व बेबुनियाद थे। मसलन 'अबलई' (ابلعى) की निस्बत यह कहना कि हिंदी में इसके मानी 'पीन' के हैं या 'तूबा' को हिंदी कहना, जैसा सईद बिन जबीर से रिवायत है, बेबुनियाद है। मगर इसमें शक नहीं कि जन्नत की तारीफ में इस जन्नत निशां मुल्क की तीन खुशबुओं का जिक्र जरूर है, यानी मुश्क (मुश्क), जजबील (सोंठ या अदरक) और काफूर (कपूर)।"[२]

फिर भी आज 'हिंदुस्तानी' में 'कपूर' को 'काफूर' लिखा जाता है, जैसे कि वह अरब का सगा दान ठहरा।

—

१—पदमावत का उपसंहार, मलिक मुहम्मद जायसी जायसी-ग्रंथावली, वही, पृ० ३४१।

२—अरब व हिंद के ताल्लुकात, वही, पृ० ३१-३२।

हमारी राष्ट्र की भाषा-संबंधी अन्य पुस्तकें

हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी को लेकर इधर जो विवाद चल पड़ा है उसकी आड़ में कुछ कलुषित मनोवृत्तिवाले लोगों ने अपना मतलब सिद्ध करने के लिये हिंदी भाषा एव देवनागरी लिपि पर, अपनी लचर दलीलों का आश्रय लेकर, जो आक्रमण करना आरभ किया है वह निम्नलिखित पुस्तकों मे स्पष्ट किया गया है। विद्वान् लेखकों ने हिंदी भाषा और लिपि का सरल स्वाभाविक स्वत्व अत्यन्त पुष्ट और अकाट्य प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है।

१—बिहार में हिंदुस्तानी (पं० चद्रबली पाडे, एम० ए०)		I)
२—भाषा का प्रश्न	”	III)
३—कचहरी की भाषा और लिपि	”	III)
४—मुगल बादशाहों की हिंदी	”	...
५—मुल्क की जबान और फाजिल मुसलमान (उर्दू)		...
६—हिंदुस्तानी का उद्गम (प० रामचद्र शुक्ल)		‑)
७—हिंदी बनाम उर्दू (पं० वेंकटेशनारायण तिवारी)		अमूल्य

बाल-मनोविज्ञान

श्री लालजीराम शुक्ल, एम० ए०, बी० टी० की लिखी हुई यह हिंदी भाषा म अपने विषय की एकमात्र पुस्तक है। बच्चों के मन की स्थिति का अध्ययन कर इच्छानुसार उनका भविष्य किस प्रकार निर्माण किया जा सकता है इसका विशद विवेचन विद्वान् लेखक न इस पुस्तक मे बहुत ही सरल ढग से किया है। पुस्तक भारतीय वातावरण के सर्वथा उपयुक्त है। पृ० सं० ढाई सौ से ऊपर। मू० १।)

मध्य प्रदेश का इतिहास

प्रस्तुत पुस्तक इतिहास के प्रकांड पंडित तथा कलचुरि इतिहास के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् रायबहादुर डाक्टर हीरालाल जी बी० ए० की आजीवन तपस्या का फल है। पुस्तक के आरंभिक अध्याय में मध्य प्रदेश के प्राचीन और अर्वाचीन भागों का भौगोलिक विवेचन है। तत्पश्चात् अन्य पद्रह अध्यायों में प्रागैतिहासिक काल से लेकर अँगरेजी सरकार की स्थापना तक के इतिहास का वर्णन अत्यत रोचक ढंग से हुआ है। साथ में आधुनिक मध्य प्रदेश एव महाराज कर्णदेव के राज्य विस्तार के एक एक मानचित्र भी हैं। आरंभ में लेखक का सचित्र परिचय दिया गया है। रायल अठपेजी आकार की, अच्छे कागज पर छपी, १०६ पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य लगभग १॥) ।

भारतीय मूर्तिकला

श्री राय कृष्णदास रचित इस पुस्तक में मोहन जो दड़ो के समय से लेकर आज तक की भारतीय मूर्तिकला का सरल भाषा में वर्णन है। साथ ही इस कला के सौंदर्य की विशेषताएँ एवं तात्त्विक व्याख्या है। यह अपने ढंग की, हिंदी ही में नहीं समस्त भारतीय भाषाओं में पहली और सर्वश्रेष्ठ पुस्तक है। पृष्ठसंख्या २३९+१३, ३९ चित्र तथा मैटर के साथ अनेक रेखा-आकृतियाँ। मूल्य १), विशिष्ट संस्करण १।)

भारत की चित्रकला

इसमें भारत की चित्रकला का अथ से इति तक का इतिहास, सौंदर्य-निरीक्षण एवं उसके मर्म की बातों का विवरण है। इसमें ग्रंथ-रचयिता श्री राय कृष्णदास के लगभग ३० बरस के अपने गंभीर अध्ययन का सार है। उन्होंने भारतीय चित्रकला के इतिहास-विषयक कई महत्त्वपूर्ण नई बातों का उद्‌घाटन किया है और उन पर नया प्रकाश डाला है। यह भी अपने ढंग की हिंदी ही में नहीं, समस्त भारतीय भाषाओं में पहली तथा श्रेष्ठतम पुस्तक है। पृ० सं० १८०+१६, चित्र-संख्या २७ (सादे)+१ (रंगीन), मैटर के साथ अनेक रेखा-आकृतियाँ। मूल्य १), विशिष्ट संस्करण १।)।

सोवियत्-भूमि

लेखक—महापंडित राहुल सांकृत्यायन

सोवियत् रूस के संबंध में इतनी सर्वांगपूर्ण पुस्तक हिंदी अब तक तो निकली ही नहीं, अन्य भारतीय भाषाओं में भी कदाचित् ही हो। रूस की क्रांति और उसके आधुनिक उत्थान का क्रमिक इतिहास, सोवियत् विधान महासोवियत् का चुनाव तथा सोवियत् नेता, सोवियत् स्त्री-पुरुष, लेखक, फिल्म, नाट्य कोलखोज (सरकारी कृषि) एवं औद्योगिक प्रगति का सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि से विस्तृत विवेचन किया गया है भौगोलिक वर्णन के साथ साथ यात्रा संबंधी आवश्यक सूचनाएं भी दी हुई हैं। एक शब्द में वर्त्तमान रूस के संबंध में यह एक विश्व कोश है। इस पुस्तक में साथ ही अफगानिस्तान का भी अच्छा वर्णन है। इस पर लेखक को हिंदी-साहित्य सम्मेलन का सेकसरिया पुरस्कार प्राप्त हुआ है। पुस्तक की चिरस्थायी जिल्दबंदी तथा छपाई अत्यंत मनोहर है। पृ० सं० ८०० से ऊपर, चित्र सं० ११६ तथा मानचित्र २। मूल्य केवल ५)।

प्रेमसागर

लल्लूलालजी के लिखे हुए मूल प्रेमसागर की १८१० ई० में स्वयं प्रकाशित तथा सन् १८४२ की छपी एक दूसरी प्रति से